UNIVERSITY OF DELHI
निष्ठा धृति सत्यम्

DELHI UNIVERSITY
LIBRARY

DELHI UNIVERSITY LIBRARY

Cl. No. O152:3N08 Ac. No. 142829

Date of release for loan 10 SEP 1969

This book should be returned on or before the date last stamped below. An overdue charge of **5 Paise** will be collected for each day the book is kept overtime.

			1970

उन्माद

कमला चौधरी

प्रकाशक
साहित्य-सेवा-सदन,
मेरठ।

प्रतिनिधि
निष्काम प्रकाशन,
मेरठ।

लेखिका की अन्य रचनाएँ—

कहानी-संग्रह—

यात्रा

पिकनिक

बेलपत्र

प्रहसन—

अन्धेरी मजिस्ट्रेटी

कविता—

खैयाम का आत्मदर्शन

उपन्यास—

पीड़ा की खोज

प्रथम संस्करण : १९३४
द्वितीय संस्करण : १९४६
तृतीय संस्करण : १९५०
सर्वाधिकार सुरक्षित

मूल्य ढाई रुपये

मुद्रक
मदन मोहन बी. ए.
निष्काम प्रेस, मे

समर्पण

तुम कहाँ हो !

मैंने तुम्हारे गर्भ से जन्म नहीं लिया, तुम मेरी सजातीय भी नहीं थीं, फिर भी तुम मेरी माता थीं। माता के अभाव की पूर्ति तुमने कर दी थी, अब तुम्हारे अभाव की पूर्ति कैसे हो ?

आज तुम्हारे बिना मा की सुध भी मुझे व्यथित करती है, तुम दोनों की याद में बहुधा मै उन्मादिनी-सी बन जाती हूँ, यह 'उन्माद' उसी का फल है। तुम दोनों कहाँ हो ? कहीं भी हो, तुम्हारी ममता की पीड़ा से उत्पन्न हुआ 'उन्माद' तुम्हें ही समर्पित है।

तुम्हारी बिटिया

'कमला'

क्रम

भूमिका— प्रेमचन्द ... ५

प्रस्तावना— बनारसीदास चतुर्वेदी ... ७

मेरी कहानियों की कहानी ... २१

कहानियाँ—

१. साधना का उन्माद ... २९

२. भ्रम ... ४९

३. मधुरिमा ... ७३

४. भिखमंगे की बिटिया ... ९५

५. पागल ... ११३

६. श्रमी की अभिलाषा ... १२५

७. मेरी रानी ... १४३

८. कर्कशा ... १६१

९. प्रायश्चित्त ... १७७

१०. त्याग ... १९७

११. आँखें खुलीं ... २१५

उपन्यास-सम्राट् स्वर्गीय श्री प्रेमचन्द जी लिखित

प्रथम संस्करण की भूमिका

मै ने श्रीमती कमला चौधरी की कई कहानियाँ पढ़ी हैं, और मुग्ध हो गया हूँ। देवीजी ने थोड़े ही दिनों से गल्प लिखना शुरू किया है। कम-से-कम मुझे हाल ही में उनकी रचनाओं के पढ़ने का अवसर मिला है। मै उनकी भाषा की प्रौढ़ता और प्रवाह, उनकी भाव-व्यंजना और मनोरहस्यों की गहराई में उतर जाने की शक्ति पर चकित हो गया हूँ। यद्यपि उनकी रचनाओ का क्षेत्र सीमित है; पर यह वह क्षेत्र है, जिसके कोने-कोने से वह परिचित हैं। वे जो कुछ लिखती हैं, उसमें अनुभूति की झलक होती है; कहीं अँधेरे में टटोलती या भटकती नहीं मालूम देतीं, मानो उनके पात्र जाने-माने लोग हैं। 'साधना का उन्माद' में साधना का चरित्र इतना मार्मिक और सजीव है कि लेखिका का कलम चूम लेने को जी चाहता है। माता के प्यार और चाची के

प्यार का अन्तर कितनी खूबसूरती से दिखाया गया है कि साधना आँखों के सामने आ जाती है, और हम देखते है कि वह भोग-विलास की वस्तुओं से घिरी हुई भी कितनी निराश है। युवती अभिलाषा क्या चाहती है और उसे न पाकर उसके मन में क्या-क्या भाव उठते है, ऐसे नीरस, शुष्क, प्रेम-विहीन जीवन का ऐसा सुन्दर चित्रण मैंने बहुत कम देखा है। युवती ही इन रहस्यों को समझ सकती है, और वही उनका चित्रण भी कर सकती है। 'भिखमंगे की बिटिया' भी अपने रंग की लाजवाब चीज़ है।

कमला जी की इन रचनाओं ने साहित्य-प्रेमियों में उनसे बहुत कुछ आशाएँ पैदा कर दी है। जो कलम 'साधना' की इतनी सफल कल्पना कर सकता है, वह और भी बहुत कुछ कर सकता है। हमें आशा है, साहित्य-रसिक इन कहानियों का आदर करेंगे।

परेल, बम्बई,
३-१०-३४

—प्रेमचन्द

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी की प्रस्तावना

"पंडितजी, दो आदमी आपसे मिलने आये हैं। एक कमला चौधरी हैं, और दूसरे उनके पति डाक्टर चौधरी हैं।"— यह बात हमारे साथी रामधन ने आकर कही। हम कुछ घबरा-से गये। मन में सोचा कि साहित्यिक भाषा में जिसे 'आकस्मिक वज्रपात' कहते हैं, वह यही है। हिन्दी-साहित्य-सेवियों से मिलने में हम उतना ही डरते हैं, जितना बकरी बाघ से। पर जब आफत सिर पर आपड़ी है, तो झेलना ही पड़ेगा, यह सोचकर मन को सान्त्वना दी। आमने-सामने किसी हिन्दी-लेखिका से मुक़ाबला होने का शायद जिन्दगी में यह पहला ही मौका था, इसलिए कुछ संकोच भी था।

रामधन से हमने कहा—"जरा उन्हें बाहर ही रोको।" इतनी देर में कमरे को भले आदमियों के बैठने के लायक बना लिया, और अपनी छोटी लड़की देवकी को लेकर आक्रमण सहन करने के लिए तैयार हो गया। हमने निश्चय कर लिया था कि डाक्टर साहब से पूछेंगे कि अगर कहानी लिखने का शौक ही है, तो अपने नाम से क्यों नहीं छपाते ?

डाक्टर साहब सपत्नीक पधारे, अथवा यों कहना अधिक शुद्ध होगा कि श्रीमती कमलादेवी सपतिका पधारीं। घन्टे डेढ़-घन्टे बातचीत हुई। डाक्टर साहब ने श्रीमती महादेवी वर्मा की कविताओं की बड़ी प्रशंसा की और अँगरेज़ी काव्य के विषय में भी वार्तालाप किया। डाक्टर साहब अँगरेज़ी काव्य के अच्छे ज्ञाता हैं। वे स्वयं भी अँगरेजी में कविता किया करते थे, साथ ही उनके आध्यात्मिक विचारों का धरातल काफी ऊँचा है। इन बातों से डाक्टर साहब का रौब हम पर ग़ालिब हो गया, और हम अपना सवाल पूछना ही भूल गये।

संस्कृत में एक कविता है—

"उत्तमा आत्मना ख्याताः
पितुः ख्याताश्च मध्यमाः ;
अधमा मातुलैः ख्याताः
श्वसुरैश्चाधमाधमाः।"

यानी उत्तम वे हैं, जो स्वयं अपनी कारगुज़ारी से प्रसिद्ध हों ; मध्यम वे हैं, जो पिता जी की कीर्ति से कीर्तिवान बनें ; अधम वे हैं, जो मामा के यश से यशस्वी हों ; पर जो श्वसुर के नाम से प्रख्यात हों, वे अधमाधम

हैं। संस्कृत का कवि यह बताना भूल गया कि श्वसुर की दुहिता के नाम से जो महानुभाव प्रख्यात हों, वे किस श्रेणी में गिने जायँ। डाक्टर साहब की तसल्ली के लिए हम यह कह देना चाहते हैं कि हम उन्हे उत्तम श्रेणी मे ही गिनते है, और हिन्दू-संस्कृति के अनुसार आधी कीर्ति के अधिकारी तो वे हर हालत में हैं ही।

श्रीमती कमला चौधरी की प्रशंसा हम इसलिए नहीं कर रहे हैं कि उन्होंने अभी कोई बडी उच्च कीर्ति प्राप्त कर ली है, बल्कि इसलिए कि उनमे अच्छी लेखिका बनने की सम्भावना (Potentiality) पर्याप्त मात्रा में पाई जाती है। 'उन्माद' में प्रकाशित रचनाओं को हमने आरम्भ से अन्त तक पढ़ा है, और बिना किसी सकोच के हम कह सकते हैं कि उनमें से कई क़ाबिले-तारीफ बन पड़ी हैं। 'साधना का उन्माद' एक ऐसी चीज़ है, जिसे हम गद्य-काव्य या हृदय-खण्ड के नाम से पुकार सकते हैं। उसे पढ़कर हमारे पास हिन्दी के कई प्रसिद्ध गल्प-लेखकों के पत्र आये कि लेखिका जी को हमारी ओर से हार्दिक बधाई दीजिये।

हमने देखा है कि जब किसी लेखक या लेखिका के विषय में सम्पादक के पास पत्र आने शुरू हो जाते हैं, तब समझ लेना चाहिए कि वह काफी लोकप्रिय हो रहा है, क्योंकि हिन्दी वाले किसी लेखक को प्रोत्साहित करने के लिए पत्र भेजना पोस्टेज का अपव्यय समझते हैं, और जब उनसे बिना लिखे रहा नहीं जाता, तभी वे यह फिजूलखर्ची करतें हैं। पिछले दिनो जिन व्यक्तियों के कारण 'विशाल भारत' के पाठकों को यह अपव्यय करना पड़ा है, उनमें से दो विशेष रूप से उल्लेख-योग्य हैं — एक श्रीराम शर्मा

और दूसरी श्रीमती कमला चौधरी। यदि श्रीराम शर्मा ने बड़े हरिन को गोली से मार डाला, तो जवाब हमसे तलब किया जाता है, और यदि कमला चौधरी की कहानी में अर्द्ध-मूर्च्छित अवस्था में कहानी का नायक नायिका के गले से लिपट गया, तो उसके ज़िम्मेवार हम ठहराये जाते हैं! इन भले आदमियों को कौन समझावे कि 'विशाल भारत' का अहिंसात्मक विधुर सम्पादक दोनो मामलों में सर्वथा निरपराध है। शर्माजी के हाथ में राइफल है (उसका नाम या बोर नम्बर इस वक्त 'शान्ति-निकेतन' के प्रेममय वातावरण में भूल रहा हूँ), और वे चाहे जिस जानवर को— व्याघ्र हो या बाराह, हरिन हो या नीलगाय, रीछ हो या मगर— गोली के घाट उतार सकते हैं। और श्रीमती चौधरी के हाथ में कलम है, और वे चाहे जिस पात्र या पात्री को सजीव या निर्जीव कर सकती हैं; इसमें सम्पादक की न कोई जिम्मेवारी है, और न कोई अपराध।

श्रीमती कमलादेवी ने जिन कहानियों में अतृप्त प्रेम का वर्णन किया है, उनमें वे असाधारण रूप से सफल हुई हैं। उनके द्वारा जिन पात्रों का निर्माण हुआ है, उनमें 'साधना' और 'मधुरिमा' के नाम विशेष रूप से उल्लेख-योग्य हैं। उनकी 'साधना' तो वास्तव में सहानुभूति की पात्र है, और जिन्होंने उसके उन्माद को पढ़ा है, उनके हृदय में साधना के विषय में अधिकाधिक जानने की उत्कंठा उत्पन्न हुए बिना नहीं रही। 'साधना' का निर्माण कभी पुरुष गल्प-लेखक द्वारा हो सकता था, इस बारे में हमें बहुत सन्देह है।

श्रीमती कमलादेवी की 'मधुरिमा' भी विवाद का विषय बन गई है। उसके विषय में सुप्रसिद्ध गल्प-लेखक श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार ने लिखा है— "कहनी-लेखक के लिए असम्भव घटना कोई भी नहीं। वह सब प्रकार के कथानकों की कल्पना कर सकता है। जन्म, मृत्यु, सम्बन्ध, वियोग— संसार की ये सब बडी-बडी ठोस घटनाएँ जैसे उसके 'कलर बक्स' में भरी रहती है, और इनसे वह अपने चित्रो की सृष्टि करता है; मगर इसके साथ-ही-साथ कहानी-लेखक के लिए यह भी आवश्यक है कि वह अपने कथानक का निर्माण इस तरह करे कि उसके पाठको को उसमे असम्भव या बेढङ्गा कुछ भी न जान पडे। उसकी कहानी अपने कथानक की स्वयं ही कैफियत भी हो। कहानी-कला की निपुणता मुख्यतः इसी बात में है।

"इस कहानी की आलोचना की भूमिका के रूप मे एक बात और भी। कहानियो का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया जा सकता है; परन्तु जहाँ तक मेरा खयाल है, इस 'मधुरिमा' कहानी की लेखिका श्रीमती कमला चौधरी की कहानियो को 'भाव-प्रधान' कहा जा सकता है। श्रीमती चौधरी की इस कहानी मे भी एक विशेष मानसिक अनुभूति वाले चरित्र का चित्रण किया गया है। मेरे विचार में इस तरह के कहानी-लेखक को अपना क्षेत्र बहुत सीमित रखना चाहिए। इस तरह के मानसिक भावों को चित्रण करने का काम इतना बारीक— इतना महीन है कि उसमें मोटे ब्रशों का प्रयोग करना खतरनाक है।

"इन्हीं दो दृष्टियों से मैं श्रीमती कमला चौधरी की इस 'मधुरिमा' कहानी की आलोचना करने लगा हूँ।

"कहानी का उत्थान ठीक है। लेखिका ने मधुरिमा का चित्र जिस रूप में अङ्कित करने का प्रयत्न किया है, पाठक के सम्मुख मधुरिमा उसी रूप में उपस्थित होती है। मधुरिमा बहुत भोली, निष्कलंक और पवित्र है। वर्ड्सवर्थ की ल्यूसी की तरह वह प्रकृति की पुत्री है। वह कुमार की ओर भी इसीलिए आकृष्ट होती है कि कुमार उसकी निगाह में प्राकृतिक सौन्दर्य का, फूलों का, पत्तों का, हरियाली का और संगीत का प्रेमी है। उधर कुमार एक भले और सम्पन्न घर का सुशिक्षित और सांसारिक नवयुवक है, ठीक वर्तमान युग के कुलीन युवकों का-सा। वह अपने मानसिक भावों पर, आवेशों पर, परदा डाल सकता है। वह कभी अशिष्ट नहीं हो सकता। वह मधुरिमा को चाहता है उसके भोले और निष्कलंक स्वभाव के कारण और उससे भी बढ़कर मधुरिमा के असाधारण और चंचल सौन्दर्य के कारण। मधुरिमा कुमार की ओर आकृष्ट है और कुमार मधुरिमा को चाहता है; परन्तु दोनों की मनोवृत्तियों में, दोनों की अकाङ्क्षाओं और इच्छाओं में न केवल असाधारण भेद ही है, अपितु विपरीतता भी है।

"मधुरिमा एक दिन एक सुन्दर-सी माला बना कर कुमार के लिए ले जाती है। मधुरिमा के हृदय में निष्पाप कौतूहल और विशुद्ध आकर्षण को छोड़कर और कुछ नहीं है। वह कुमार को उस दृष्टि से देखती है, जैसे एक छोटा बच्चा दूसरे छोटे बच्चे को देखता है; परन्तु कुमार उसे गलत समझता है। वह अपने भावों का अव और संयम नहीं कर सकता। वह खुल पड़ता है। इतने आवेग से और इतनी वासना के साथ कि

मधुरिमा सहम जाती है। उसके प्रसन्नता-पूर्ण हृदय को गहरी ठेस पहुँचती है। वह किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाती है।

"यहाँ तक तो सब ठीक है, परन्तु इसके बाद, मेरी राय में, सब-कुछ ठीक नहीं रहा। कहानी में उलझन आ गई है और चित्रण में अपूर्णता रह गई है। इसके बाद लेखिका ने अपने 'कलर बक्स' में से बड़े-बड़े ब्रश लेकर उनकी मदद से गहरे-गहरे रंगों का प्रयोग इस कहानी में किया है। कुमार और मधुरिमा का विवाह हो जाता है। मधुरिमा की दुनिया बदल जाती है। उसका सोने का संसार मिट जाता है। कुमार उसे नये रूप में दिखाई देता है। परिणाम यह होता है कि वह बीमार पड़ जाती है। कुमार जानता है कि मधुरिमा प्रकृति से प्रेम करती है। वह उसके लिए फूल लाता है, मालाएँ लाता है; वह उसे संगीत सुनाता है, उसके लिए कविताएँ बनाता है। फिर भी मधुरिमा के दिल का घाव नहीं भरा। उसकी बीमारी बढ़ती गई, और एक दिन वह कुमार को सदा के लिए अकेला छोड़ गई!

"कथानक के इस उपर्युक्त अन्तिम अङ्क में लेखिका अपने कथानक के औचित्य को सिद्ध नहीं कर सकी। पाठक झुँझलाकर यह जानना चाहता है कि आखिर यह सब किसलिए? कुमार मधुरिमा के स्वभाव को समझता है; उसकी इच्छाओं के अनुकूल चलना चाहता है। फिर भी मधुरिमा बीमार है। उसकी बीमारी का आधार मानसिक व्यथा है। यह क्यों? मधुरिमा सदा के लिए चली जाती है—आखिर क्यों? किसी बात की पूरी कैफियत पाठक को नहीं मिलती।

"श्रीमती चौधरी ने कहानी के उत्थान में मधुरिमा का चरित्र समझाने के लिए जितना प्रयास किया है, उसका दसवॉ हिस्सा भी मधुरिमा के विवाह के बाद की अनुभूतियों का चित्रण करने के लिए नहीं किया। बाद मे उन्होंने विवाह, बीमारी, मृत्यु जैसी बड़ी-बडी ठोस घटनाओं का आश्रय तो लिया है, परन्तु फिर भी मधुरिमा के विवाह के बाद की उसकी मानसिक अनुभूतियॉ पाठक के लिए अस्पष्ट रहती हैं।

"मेरी राय में कथानक को इस नुकीलेपन से बचाने के लिये अच्छा यह रहता कि उस दिन की मालावाली घटना को और भी अधिक विस्तार तथा मनोरंजकता के साथ लिखा जाता, और कहानी वहीं समाप्त कर दी जाती।

"इस कहानी की तारीफ में भी बहुत-कुछ लिखा जा सकता है; परन्तु उसकी यहॉ आवश्यकता नहीं।"

दूसरा दृष्टिकोण श्री अलगूरायजी शास्त्री का है। वे लिखते है—

"सामान्यतया कोई भी पठक मधुरिमा में बहुत से दोष देखेगा, क्योंकि यह कहानी कुछ असाधारण-सी है। मधुरिमा का फूलों के लिए विचित्र पागलपन, युवावस्था में पहुँच कर सर्वथा अनुकूल जीवन-मग का सहचारी पाकर भी उसमें युवतीजनोचित भावों की शून्यता, बॉसुरी के शब्दो से प्रथम साक्षात् में ही कुमार का हाथ पकड मधुरिमा का उसे अपना संगीताचार्य बना लेने का आग्रह आदि सभी बातें असंगत कल्पना-सी लगती हैं। संगीत में रुचि रखने वाली, जीवन-संगीत की दृष्टि से परम सौभाग्यवती, पुष्प-

वाटिका में ही जीवन का अधिकाश बिताने वाली मधुरिमा इस प्रकार असाध्य रोग से ग्रस्त हो जाय, यह भी वैद्यकशास्त्र के मान्य सिद्धान्तों की सर्वथा उपेक्षा ही है। तर्क की इस कसौटी से यह कहानी कल्पनाश में दोषपूर्ण मानी जायगी, यद्यपि भाषा और भावों की दृष्टि से भी यह गद्य-काव्य ही ठहरेगी।

"परन्तु एक दूसरी दृष्टि से देखे, तो यह कहानी बड़ी सरस है। लेखिका की 'मधुरिमा' एक अलौकिक पुष्प है। वह अपने लोक से क्षणभर भी बाहर नहीं रहना चाहती। अपने पिता-माता के उद्यान में वह आ खिली है। गायक पक्षी उसे रिझाते हैं। कुमारोपम माली भी उसे सिंचित करता है। पुष्प की आयु ही कितनी? गुलाब के फूल-सा स्वल्प दिवसायु मधुरिमा को प्राप्त होना स्वाभाविक था। चिकित्सकों की दृष्टि में न आने वाला उसका रोग पुष्प के पूर्ण विकासानन्तर स्वाभाविक कुम्हलान-सा मृत्यु में परिणत होने वाला ही हो सकता था, ताकि वह अपने पुष्प-लोक में इस झंझटी, आडम्बरी, दुर्गन्धियुक्त संसार से भागकर चली जाय। उसे माली अथवा उद्यानपति की परेशानी का खयाल ही क्यों होता?

"इस कहानी में, एक साधारण पाठक के लिये जो अकाल-मृत्यु की दुर्घटना है, वह वास्तव में पुष्प की निष्कपट सुवासित अल्पायु से मधुरिमा के जीवन को उच्च बनाती है। युवतीजनोचित भावों की शून्यता— यद्यपि कुमार उस पर प्राण देता है— मानो पुष्प का माली की ओर से उदासीन रहना है; यद्यपि माली के हृदय में पुष्प की प्रत्येक पँखुडी के मुरझाने पर एक गहरी बात बीतती रहती है, इत्यादि।

"यह एक और दृष्टि है, जिससे इस कहानी को देखा जा सकता है, और देखना चाहिये ; क्योंकि इस प्रकार न देखें, तो फिर तो श्रीमती कमला चौधरी की कहानी-लेखन-पटुता कुछ रह ही नहीं जाती—कल्पनाओं का सर्वथा दिवालियापन हो जाता है। चौधरानी जी में कल्पना-शक्ति है। इस कहानी से वह सुगन्धित स्वल्पायु जीवन की सुन्दरता चित्रित करती जान पड़ती हैं। मुझे इस दृष्टि से ही यह कहानी दिखलाई पड़ती है, और रुचती है।"

'मधुरिमा' श्रीमती कमलादेवी की एक उत्तम सृष्टि है, इसमें सन्देह नहीं। सांसारिक दृष्टि से भले ही हम मधुरिमा को इस बात के लिये दोष दें कि कुमार-से सहयोगी को पाकर भी वह क्यों सन्तुष्ट नहीं है, भले ही हम उसे सनकी समझें ; पर हमें एक बात न भूलनी चाहिये कि दुनिया में सभी चरित्र एक ही साँचे में ढले हुए नहीं हैं, और न सभी की आकाक्षाएँ ही समान हो सकती हैं। वैचित्र्य में ही इस संसार का सौन्दर्य है। इस वैचित्र्य के कारण ही हम मधुरिमा का स्वागत करते हैं, यद्यपि हम जानते हैं कि मधुरिमा के साथ घर-गिरस्ती नहीं चलाई जा सकती।

श्रीमती कमला चौधरी की 'भिखमगे की विटिया' हमें एक अन्य दृष्टि से पसन्द आई। हमने कभी भी अनुमान नहीं किया था कि अवधी भाषा भी हमारी ब्रजभाषा की तरह ही मधुर हो सकती है। अक्टूबर सन् १९२८ के 'विशाल भारत' में स्वर्गीय श्री ब्रजेश त्रिपाठी जी की एक अवधी भाषा की कविता 'धर्म-रक्षा' के नाम से निकली थी। उसे पढकर 'भारत'-सम्पादक श्री केशवदेव शर्मा ने, जो ब्रजवासी हैं, हमसे

कहा था कि उन्हें इस बात से आश्चर्य हुआ कि अवधी में ब्रजभाषा के समान ही मिठास है। 'परबत्ता बहिनी' की मीठी बोली बहुत दिनों तक हमारे कानों में गूँजती रहेगी।

मेरठ के सार्वजनिक जीवन में श्रीमती कमलादेवी का अच्छा स्थान है। वे दो बार जेल भी हो आई हैं, और एक बार तो जेल के कारण इतनी बीमार पड़ गईं कि मरते-मरते बचीं। वे सहृदय हैं, उनमें स्त्री-सुलभ लज्जा है, भारतीय नारियों के उच्च गुण उनमें विद्यमान हैं, और सब से अधिक उल्लेख-योग्य बात यह है कि वे अपनी रचनाओं से बढ़कर हैं।

'उन्माद' की सभी कहानियाँ उच्च कोटि की हैं, ऐसा हम नहीं मानते। जहाँ 'साधना का उन्माद' और 'मधुरिमा' फर्स्ट क्लास की हैं, वहाँ 'भिखमंगे की बिटिया' सेकिंड क्लास की चीज है। इसके सिवा कुछ इन्टर क्लास की हैं और कुछ थर्ड क्लास की भी! संक्षेप मे यों कहिये कि 'उन्माद' उस हिन्दुस्तानी रेल की तरह है, जिसमें सभी डिब्बे हैं, इस लिए सभी प्रकार के पाठक अपनी अपनी बौद्धिक हैसियत के अनुसार उसका आनन्द उठा सकते हैं।

श्रीमती कमलादेवी जी की रचनाओं पर हमें एक ऐतराज़ है, और वह यह कि वे प्रायः दुःखान्त हैं। इसके बारे में हमने उन्हें कई बार लिखा भी है; पर उन्होंने सदा यही उत्तर दिया है कि अपने पर ज़ोर ज़बरदस्ती करके मै सुखान्त कैसे लिखूँ? बात भी ठीक है। कार्लाइल ने एक जगह लिखा है—

"Let a man but speak forth with genuine earnestness the thought, the emotion, the actual condition of his own heart and other men, so strangely are we knit together by the tie of sympathy, must and will give heed to him. In culture, in extent of view, we may stand above the speaker or below him ; but in either case his words, if they are earnest and sincere, will find some response within us , for inspite of all casual varieties in outward rank or inward, as face answers to face, so does the heart of man to man."

—'यदि कोई आदमी हार्दिक सचाई के साथ अपने विचार, अपनी भावनाएँ और खुद अपने दिल की हालत का बयान करे, तो दूसरे आदमियों को अवश्य उसकी बातों पर ध्यान देना ही पड़ेगा, और वे उसकी बातों पर जरूर ध्यान देंगे ही, क्योंकि हम सब— मानव-जाति— सहानुभूति के सूत्रों से इस प्रकार आबद्ध हैं कि उसे देखकर आश्चर्य होता है। यह बात दूसरी है कि हम लेखक अथवा व्याख्यानदाता की अपेक्षा अधिक सुसंस्कृत हों, या कम कल्चर्ड हों, अथवा उसकी बनिस्बत अधिक या कम दूरदर्शी हों ; पर दोनों हालतों में यदि उस लेखक या व्याख्यान-दाता के शब्द सचाई तथा सहृदयता से युक्त है, तो उनकी प्रतिध्वनि हमारे हृदय में अवश्य पैदा होगी, क्योंकि तमाम भीतरी और बाहरी

ओहदो तथा पदो की भिन्नता होते हुए भी जिस प्रकार चेहरे का जवाब चेहरा देता है, उसी प्रकार एक आदमी के हृदय का जवाब दूसरे आदमी का हृदय देता है।'

जर्मनी के महाकवि गेटे ने कहा था—

"I have guesses enough of my own; if a man write a book, let him set down only what he knows."

—'लेखक को चाहिए कि वह उन्हीं बातो को लिखे, जिन्हे वह जानता है। अन्दाज तो मैं भी बहुत भिडा सकता हूँ।'

श्रीमती कमलादेवी की रचनाओ मे जितने अंश स्वानुभूति के है, वे बहुत अच्छे बन पडे हैं।

जो बहने हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में काम कर रही हैं, उनकी सूची में श्रीमती कमला चौधरी का नाम भी सम्मानपूर्वक सम्मिलित किया जा सकता है। इस दौड में वे ज़रा देर से आई है; पर पाठक देखेंगे कि वे अनेक बहनों को पीछे छोड आई है, और वह दिन दूर नहीं है, जब वे पुरुष गल्प-लेखकों का भी मुकाबला करने लगेगी। स्त्री-लेखिकाओं मे उन्होंने अपने लिए एक विशेष स्थान बना लिया है, और उनकी दूसरी रचना से— जिसमें चार-पॉच प्रहसन हैं और जो शीघ्र ही प्रकाशित होगी— उनका स्थान और भी सुदृढ़ हो जायगा।

श्रीमती कमला चौधरी 'विशाल भारत' की अपनी लेखिका हैं, और उन्होंने अपनी प्रथम पुस्तक छपाने का अवसर प्रदान करके हमे गौरवान्वित किया है, तदर्थ हम उनके ऋणी और कृतज्ञ है।

शान्ति-निकेतन, बोलपुर,
२६ सितम्बर, १६३४

—**बनारसीदास चतुर्वेदी**
सम्पादक, 'विशाल भारत'

मेरी कहानियों की कहानी

'उन्माद' मेरी सर्वप्रथम कहानियों का संग्रह है। इसमें सम्मिलित सभी कहानियाँ डेढ़ दो वर्ष के भीतर ही की लिखी हुई हैं ; उस समय की जब कहानी-कला क्या वस्तु है, कहानी के क्या टेकनीक हैं, कहानी की भाषा-शैली कैसी होनी चाहिये, आदि, जिज्ञासा ही मन में उत्पन्न नहीं हुई थी। मुझे भली प्रकार स्मरण है कि 'उन्माद' में संग्रहीत पहली कहानी 'पागल' लिखने से पूर्व कभी कहानी लिखने की प्रेरणा भी मन में उत्पन्न नहीं हुई थी, फिर भी मेरी यह सर्वप्रथम कहानी कलाकारो की दृष्टि से सफल कहानी आँकी गई। "इस कहानी की रचना किस प्रकार हुई?" इस प्रश्न के साथ एक कहानी जुडी है जिसे पहले संस्करण के समय लिखने की प्रवृत्ति उत्पन्न नहीं हुई, किन्तु इस दूसरे संस्करण के प्रकाशित होते समय वह कहानी इस संग्रह में देना मुझे महत्वपूर्ण जान पड़ रहा है ; कारण कि मेरी हार्दिक श्रद्धा की सबसे अधिक अनुभूतियाँ जिनके प्रति समर्पित है उनका इससे सम्बन्ध है। राष्ट्रपिता पूज्य बापू की आत्म-शुद्धि से सर्वप्रथम कहानी लिखने की प्रेरणा मेरे मन को मिली और कहानी-रचना का श्रीगणेश हुआ।

सन् १९३३ में जब हरिजनों को हिन्दू जाति से पृथक करने की योजना चल रही थी राष्ट्र के कल्याण के निमित्त राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने जेल मे उपवास प्रारम्भ किया था। देश में चिन्ता के बादल छाये हुये थे। नित्य प्रति समाचार-पत्रो मे बापू की चिन्ताजनक निर्बलता के समाचार आ रहे थे। मै भी कठिन रोग-व्याधि के कारण जेल से मुक्त होकर चिन्ताग्रस्त रोगशय्या पर पड़ी असहाय-सी छटपटा रही थी। मन में विचार उठ रहे थे— किसी प्रकार बापू का यह उपवास समस्त हिन्दू जाति के लिये चमत्कार बन जाये। एकबारगी सारे समाज की आँखे खुल जाये। सबके हृदय प्रायश्चित के लिये छटपटा उठे। विद्युत के एक

झटके की भाँति अछूतपन का अन्त हो जाय। शताब्दियों से लगी कलक-कालिमा किसी प्रकार क्षण मात्र मे भारत देश के माथे से धुल जाये। हृदय के यह उद्‌गार पीडा बनकर मन को मसलने लगे। मन की सात्वना-हेतु इन उद्‌गारों को लेखनीबद्ध करने का प्रयास किया। रोग के कारण शारीरिक पीड़ा से काफी संघर्ष करना पडा। किन्तु कहानी समाप्त करके ही लेखनी रुकी।

मन को लगा कहानी बन गई, किन्तु विश्वास नहीं होता था। इस रचना के प्रति अत्यन्त मोह होते हुये भी संकोचवश किसी को सुनाने का साहस नहीं हुआ। आज सोचती हूॅ तो जान पडता है कि संकोच की तह में कहानी-साहित्य का जो मै बहुत अधिक अध्ययन कर चुकी थी वह छिपा हुआ था। अपनी प्रथम रचना को आँकते समय गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर, श्री शरतचन्द्र चट्टोपाध्याय और श्री प्रेमचन्द जी की कहानियॉ सम्मुख उपस्थित हो जातीं, मन आशा-निराशा से भर उठता।

कहानी बन पडी या नहीं— इस उथल-पुथल मे कुछ दिन व्यतीत हो गये। एक दिन 'विशाल भारत' मासिक में स्वर्गीय श्री अज़ीम बेग चगताई की 'अंगूठी की मुसीबत' कहानी पढ़ी। मन गद्‌गद्‌ हो उठा और उसी प्रवाह में अपनी पहली कहानी 'विशाल भारत' सम्पादक के नाम छोटा-सा पत्र लिखकर भेज दी।

प्रतीक्षा मे दो मास के लगभग व्यतीत हो गये। कहानी भी नहीं छपी और न सम्पादक से पत्र का उत्तर मिला। इस बीच में मैने फैसला कर लिया कि जो प्रयास इतने मनोयोग से हुआ था वह व्यर्थ हुआ। मन में ग्लानि-सी भरने लगी जिसे दूर करने के लिये यह भी निश्चय कर लिय कि अब कभी कहानी नहीं लिखूंगी।

अचानक एक दिन एक मित्र 'विशाल भ'रत' की प्रति लेकर मुझे बधाई देने आये। देखा उसमें मेरी 'पागल' कहानी प्रकाशित हुई थी।

और दूसरे दिन डाक से एक प्रति और 'विशाल भारत' के सम्पादक श्री बनारसीदास चतुर्वेदी का पत्र मिला कि कहानी अच्छी है। आपमें कहानी लिखने की प्रतिभा है। बराबर लिखिये। 'विशाल भारत' के लिये अपनी और कहानी भेजे। सम्पादक को उस समय क्या मालूम था कि मेरे पास और कहानी नहीं हैं यह मेरी पहली रचना है।

लेकिन मन को जैसे सर्टीफिकेट मिल गया। मन मे अत्यन्त उत्साह भरने लगा और हर्ष का ठिकाना नही रहा। शायद गोस्वामी तुलसीदास को अपने रामचरितमानस पर हनूमान जी से "सही" डलवाकर भी इतनी प्रसन्नता नही हुई होगी।

फलस्वरूप उसी दिन 'भिखमगे की बिटिया' की सृष्टि हुई और पत्र के उत्तर के साथ ही सम्पादक महोदय को यह दूसरी कहानी भी भेज दी। इस बार मुख्य सम्पादक और दोनों सहकारी सम्पादक स्वर्गीय श्री ब्रजमोहन वर्मा और श्री धन्यकुमार जैन के लिखे प्रशंसा के कुछ शब्द मिले। उस समय मुझे ये तीन सर्टीफिकेट बहुत काफी मालूम पड़े और अविराम गति से कहानियो की सृष्टि होने लगी।

चार-पॉच कहानियॉ 'विशाल भारत' मासिक में प्रकाशित हुईं तो उन्हें पढ़कर कुछ साहित्यिक बन्धुओ ने शुभ कामना के पत्र भी भेजे। किन्तु हिन्दी कथा साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कलाकार स्वर्गीय प्रेमचन्द जी की दृष्टि उस समय तक मेरी कहानियों पर नहीं पडी थी जिसकी मेरे मन में प्रबल चाहना थी। कारण कि उनका लिखा हुआ समस्त साहित्य मै बड़े चाव से पढ़ चुकी थी और उनकी कहानियो के प्रति मेरे मन में बहुत ही आकर्षण था। इसलिये अपनी कहानियों पर किसी प्रकार उनकी सम्मति जान सकूँ, यह उत्सुकता हर समय बनी रहती थी। कई बार विचार हुआ कि उन्हें अपनी कहानियो के कटिग भेजूॅ। और पत्र द्वारा उनसे राय देने का आग्रह करूँ। किन्तु साहस नही होता था।

कभी प्रेमचन्द जी पत्र का उत्तर ही न दे। या इस प्रकार के पत्र को वे मेरी धृष्टता समझे। इस प्रकार के विचार मेरे मन को संकोच से भर देते और मन की वह प्रबल चाहना कार्यरूप मे परिणत नहीं हो पाती थी।

'विशाल भारत' के उदार-हृदय सम्पादक पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी मुझे पत्रो से लगातार कहानियों की रचना करने के लिये प्रोत्साहन देते रहते थे। उसी प्रोत्साहन-स्वरूप उन्होंने पत्र द्वारा मुझे सूचित किया कि श्री प्रेमचन्द जी प्रान्तीय साहित्य सम्मेलन के अवसर पर देहली पधार रहे हैं, तुम अवश्य जाकर उनके दर्शन करना और अपनी कृतियों को उन्हें सुनाकर उनसे परामर्श लेने की चेष्टा करना। इस समाचार ने मुझे बहुत ही आह्लादित किया। किन्तु मन का संकोच भी और अधिक प्रबल हो उठा। उसी प्रकार के विचार फिर मुझे निरुत्साहित करने लगे। किस प्रकार प्रेमचन्द जी से अपनी कृतियों के विषय में कुछ बात करूँगी। कहाँ हिन्दी साहित्य का उच्चकोटि का कलाकार और कहाँ ५, ७ कहानियों की नवीन लेखिका। मन में एक प्रकार की घबराहट-सी होने लगी। कहीं मेरी कहानियाँ उनकी दृष्टि मे बिलकुल निरर्थक प्रयास ही न जान पड़े।

किन्तु भाई बनारसीदास चतुर्वेदी के आदेश की उपेक्षा करना भी उचित नहीं जान पड़ा। किसी प्रकार साहस बटोर कर मै देहली सम्मेलन मे पहुँची। अब मेरे सामने समस्या थी कि श्री प्रेमचन्द जी से मुझे परिचित कौन करायेगा, जब साहित्यिक बन्धुओं से मेरा परिचय नहीं था, न कभी प्रेमचन्द जी के दर्शनो का ही सौभाग्य प्राप्त हुआ था, न कभी उनसे पत्र-व्यवहार हुआ था।

सम्मेलन के पण्डाल में जाकर बहिन महादेवी जी के दर्शन हुये। उनका आतिथ्य-सत्कार करने का एक बार अवसर प्राप्त हो चुका था। अतः मैने निश्चय किया कि बहिन महादेवी जी से आग्रह करूँगी कि वे मेरा परिचय प्रेमचन्द जी से अवकाश के समय करवा दें।

उस दिन दोपहर में सम्मेलन की बैठक स्थगित हुई। इस बीच में बहिन महादेवी वर्मा से कुछ बातचीत हुई थी। किन्तु उस समय उनसे कुछ कहना उचित नहीं जान पडा। सोचा, संध्या समय उनसे अपनी बात कहूँगी।

उस समय का कार्यक्रम समाप्त होने के उपरान्त सभी लोग पंडाल से बाहर निकल आये। मै भी पंडाल से बाहर आकर तागे की प्रतीक्षा में एक ओर खडी हो गई। प्रतिनिधियों के लिए स्वागत समिति की ओर से एक लारी आई और सभी दोपहर का भोजन पाने की जल्दी में शीघ्रता से लारी में बैठकर चले गये। केवल उनमें से एक व्यक्ति नीम के वृक्ष के नीचे खड़े हो गये। इस कारण हठात् मेरा ध्यान उस ओर आकृष्ट हुआ। मन में स्वतः ही यह विचार उठा कि कहीं यही प्रेमचन्द तो नहीं हैं। किन्तु यह विचार तुरन्त ही लुप्त हो गया, जब मैने देखा कि पृथ्वी पर पड़ा हुआ नीम का तिनका उठाकर बडी तन्मयता से वे अपने दाँत कुरेद रहे हैं। उसी समय किसी सज्जन ने आकर उनसे हँसते हुये कहा—'आप खडे ही रह गये ; लारी तो चली गई।' एकबारगी चौंककर दॉत कुरेदते हुये उन्होंने जिस स्थान पर लारी आकर खड़ी हुई थी एक दृष्टि डाली और बहुत जोर से कहकहा मार कर हँस पड़े। मेरी ऑखों ने अनुभव कराया, यह हॅसी एक अद्‌भुत हॅसी थी। मैने अनुमान किया मानो कोई दिव्य आभा की किरण इस मुखाकृति पर क्षण भर को आई और चली गई। क्षण भर पूर्व जिस आकृति को देखकर मेरे मन में अवहेलना का भाव उत्पन्न हुआ था। और अनजाने ही मस्तिष्क ने कुछ ऐसा अनुमान कर लिया था कि यह व्यक्ति कोई महान् कलाकार या प्रेमचन्द नहीं हो सकता वह भाव बिजली के एक झटके की भाँति लुप्त हो गया। फिर मन के किसी कोने से आवाज़ आई, यही प्रेमचन्द हैं। मै हठात् उनकी ओर बढ़ कर समीप खड़ी हो गई और शीघ्रतापूर्वक हाथ जोड़ कर

प्रणाम करते हुये मैंने स्वयं ही कहा— 'मैं कमला चौधरी हूँ। आपके दर्शनों की इच्छा से सम्मेलन में आई हूँ।' उस समय मन को यह आवश्यकता ही महसूस नहीं हुई कि बातचीत में सावधानी बरतने की ज़रूरत है। कभी ये प्रेमचन्द जी न हो तो कैसे उपहास की बात होगी। उत्तर में उन्होंने भी मेरी ओर देखा और फिर हँसी की एक फुलझड़ी-सी छोड़ दी जिससे जाने क्यों मेरे मन का संकोच दूर हो गया। मैंने 'विशाल भारत' के दो अंक उनकी ओर बढ़ाते हुये कहा— 'मैंने कुछ कहानियाँ लिखी हैं। समय मिलने पर पढ़ने की कृपा करें। आपका आशीर्वाद चाहती हूँ।' वे फिर उसी प्रकार ज़ोर से खिलखिला कर हँस पड़े। फिर बोले— 'आशीर्वाद! मैं कहानी पढ़कर अपनी राय दूँगा। खाना खाने के बाद सरस्वती भवन में आ जाना, मैं वहीं ठहरा हूँ।'

इतने में वे ही सज्जन एक तांगा लेकर आये और प्रेमचन्द जी दाँत कुरेदते हुये बिना मेरी नमस्ते का उत्तर दिये ही तांगे पर जा बैठे। इस अजब ढंग से बिना किसी के परिचय कराये ही उपन्यास-सम्राट श्री प्रेमचन्द जी से साक्षात्कार और वार्तालाप करने का अवसर पाकर मुझे बहुत ही प्रसन्नता हुई।

भोजन के पश्चात् मैं उनके कमरे में गई। देखा, अनेक व्यक्तियों से घिरे प्रेमचन्द जी एक झोला चारपाई पर बैठे प्रफुल्लता से हँस रहे हैं। उनमें कुछ स्कूल की लड़कियाँ भी थी। कोई कहता, कहानी कैसे लिखी जाती है। कहानी-कला की परिभाषा कीजिये। आदि आदि प्रश्नों की झड़ी लगी हुई थी। मैंने लक्ष्य किया वे प्रत्येक प्रश्न का उत्तर केवल जोर ज़ोर से हँसकर ही दे रहे थे। जिस चारपाई पर वे बैठे थे, वह इतनी ढीली थी कि उनके शरीर के नीचे का भाग पृथ्वी से कुछ अंगुल ही ऊँचा था। उनकी उस चेष्टा को बैठना न कह कर, यदि खाट के झूले में झूलना कहा जाय तो अधिक ठीक होगा। मैं उनके सामने वाले द्वार

की चौखट पर बैठ गई । मुझ पर दृष्टि पड़ते ही बोले— 'मैंने तुम्हारी कहानी पढ़ ली । बड़ी मज़ेदार है और उसका हैडिंग भी खूब है, "कर्कशा" । मुझे अपनी और कहानियाँ भेजना, मै पढ़ूँगा ।' उनके इस वाक्य से वहाँ बैठे हुये सभी व्यक्तियों का ध्यान क्षण मात्र को मेरी ओर खिंच गया । इस कारण संकोचवश मेरे मुख से कोई शब्द न निकल सका । पर जंघा पर हाथ मार कर उनके ज़ोर से ठट्ठा मारने पर फिर सभी लोग उनकी ओर आकृष्ट हो गये । वह बात वहीं पर समाप्त हो गई । फिर वार्तालाप प्रश्नोत्तर आरम्भ हो गये । मुझे कुछ बोलने का अवसर नहीं मिला ।

जब 'साधना का उन्माद' 'विशाल भारत' में प्रकाशित हुआ, जो इस संग्रह की सर्वश्रेष्ठ कहानी है, तो साहित्यकारो का ध्यान विशेष रूप से मेरी कहानियो की ओर आकृष्ट हुआ और इस कहानी ने बहुत ख्याति पाई । पत्र-पत्रिकाओं में भी इस कहानी की इतनी चर्चा हुई कि शायद ही किसी अन्य कहानी की इतनी हुई हो । अनेकों साहित्यिक पत्रो ने इसे 'विशाल भारत' से अपने पत्रों में उद्धृत किया । इस कहानी की अनेकों विस्तृत आलोचनायें भी कीं । लगभग सभी मुख्य-मुख्य साहित्यकारों ने मुझे साधुवाद और आशीर्वाद के पत्र भेजे । आदरणीय साहित्यकारों से परिचित होने का अवसर इसी कहानी ने ही मुझे प्रदान किया । और मेरे मन को साहस तथा विश्वास मिला कि मै सफल कहानी लिख सकती हूँ ।

इस कहानी के कटिङ्ग के साथ मैंने श्री प्रेमचन्द जी को पत्र लिखने का साहस किया । उत्तर में इस कहानी की प्रशंसा करके उन्होंने मुझे यथेष्ट प्रोत्साहन दिया और अपने जीवनकाल में वे समय समय पर बराबर मुझे पत्र लिखकर उचित परामर्श और प्रोत्साहन देते रहे । किन्तु 'उन्माद' की भूमिका लिखते समय तक केवल चार कहानियाँ ही वे पढ़ सके थे । कारण कि उन दिनों वे आवश्यक कार्य में व्यस्त थे ।

फिर भी मेरे आग्रह पर कि पुस्तक छप गई है आपके आशीर्वाद-स्वरूप कुछ शब्दो की प्रतीक्षा है, उन्होंने उन्हीं चार कहानियों के आधार पर भूमिका लिख दी। मुझे पत्र में लिखा कि मुझे प्रेस से फर्मे ठीक समय पर नहीं मिल पाये। "जिस समय तुम्हारा पत्र मिला मेरे पास छपे फरमे नहीं आये थे। उसी दिन दो फरमे मिले, दूसरे दिन दो और मिले और तीसरे दिन छोटी-सी भूमिका लिखकर भेज दी। मेरी ओर से एक दिन की भी देर नहीं हुई। ज्यादा समय मिलता तो विस्तार से भूमिका लिखता, नहीं तो दो ही चार पंक्तियो में खत्म कर देना पड़ा।"

इसके बाद मेरी प्रत्येक कहानी उन्होने ध्यान से पढ़ी और कई बार मुझे पत्रों द्वारा परामर्श भी दिया।

एक बार प्रयाग में गल्प सम्मेलन के अवसर पर उन्होने मेरी एक कहानी 'करुणा' सुनी और आँखों में आँसू भरे हुये मुझसे कहा—'तुम्हारी सब कहानियों में मुझे यह अत्यन्त ही मर्मस्पर्शी जान पडी। बड़ी ही सुन्दर कहानी है। अपनी सब कहानिया मेरे पास भेज देना। दूसरा संग्रह मैं प्रकाशित करूँगा और इस बार विस्तार से हर एक कहानी की आलोचना लिखूँगा।' किन्तु मेरा अभाग्य कि दूसरी पुस्तक की सामग्री जब मैने उनके पास भेजी तो वे मृत्यु-शैया पर थे, फिर भी अन्य व्यक्ति से पत्र लिखवा कर मुझे रोग-मुक्त होकर आलोचना लिखने का आश्वासन दिया। किन्तु वह आश्वासन केवल आश्वासन ही रह गया। कुछ दिन उपरान्त उनकी मृत्यु हो गई।

यह मेरी इन कहानियों की कहानी है और मेरे लेखिका बनने का इतिहास है। जिसका सारा श्रेय श्री प्रेमचन्द जी और पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी को है जिनके प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धा और कृतज्ञता मै लेखनी द्वारा प्रकट करने में असमर्थ हूँ।

—कमला चौधरी

साधना का उन्माद

लोग कहते हैं, साधना बड़ी 'भाग्यवान्' है। उसके पति की अच्छी आय है। मानो उन्हें लक्ष्मी ही सिद्ध है। साधना के रहने के लिए सुन्दर सजी-हुई कोठी है, दास-दासियाँ हैं, अच्छे-अच्छे बहुमूल्य आभूषण हैं। सबसे बडी बात यह है कि उसका पति उसकी बडी कद्र करता है। जितनी भी आय होती है, सब साधना ही के हाथ मे रख देता है। साधना अपनी इच्छानुसार चाहे जो करे, उसका पति बाधा नहीं डालता। साधना एक बार गुस्सा भी हो लेती है ; पर उसका पति उसे कभी एक कटु शब्द भी नहीं कहता। यही नहीं, साधना को परदा भी नहीं करना पडता है। इस प्रकार उसे सब तरह की स्वतन्त्रता प्राप्त है। जनता में भी साधना का बडा सम्मान है, अनेक सार्वजनिक कार्यों में वह भाग लेती है ; स्कूल,

अनाथालय तथा अन्य सामाजिक संस्थाओं को खूब चन्दा देती है। शहर में कन्याओं का हाई स्कूल निर्माण कराने का श्रेय उसी को है।

गरीब-अमीर सभी साधना को जानते हैं। बाजार से जब उसकी गाडी निकलती है, तो दूकानदार अभिवादन के लिए खड़े हो जाते हैं। खरीदारों का बढ़ा हाथ खाली रह जाता है, दृष्टि गाडी की ओर चली जाती है। कैसा ही आवश्यक कार्य क्यों न हो, उस समय साधना के विषय में बिना बात किये लोगों से रहा नहीं जाता; घर जाकर भले ही स्त्री की चार बातें सुननी पड़े— 'अब साग आया है, लडके क्या सूखी रोटी खाकर स्कूल जायेंगे? दफ्तर को देर हो जाय तो मैं नहीं जानती।' — और फिर चाहे कैसी ही तेज़ी से साइकिल भगानी पड़े।

भारत में कितनी स्त्रियाँ ऐसी हैं, जिन्हे इतनी स्वतन्त्रता प्राप्त है? फिर साधना को लोग 'भाग्यवान्' कहते हैं, तो कौनसी बड़ी बात है?

स्त्रियाँ उसके इतने सौभाग्य पर ईर्ष्या करती हैं, और ईश्वर के न्याय को दोष देती हैं। बूढ़ी स्त्रियाँ कहती हैं— "कुछ ऐसी सुन्दर भी तो नहीं है, न पति की सेवा ही करती है। अपनी बडाई के लिये बेचारे का धन दोनों हाथों से लुटा रही है। उसका पति बड़ा सीधा है।"

शिक्षित स्त्रियाँ कहती हैं— "न पढ़ी, न लिखी, नवीन सभ्यतानुसार रहन-सहन का ढङ्ग नहीं जानती, फैशन भी नहीं जानती। बात करने का भी तो सलीक़ा नहीं, न-जाने किस बात पर उसका पति इतनी खातिर करता है!"

– २ –

कोई कुछ भी कहे, इतना सब होते हुए भी, साधना अपने को भाग्यवान् मानने को तैयार नहीं। वह अपने ऐश्वर्य से सन्तुष्ट नहीं। वह तो यही समझती है कि 'मुझसे बढ़कर भाग्यहीन संसार में दूसरी न होगी।' जब कोई उसके भाग्य की प्रशंसा करके कहता है कि 'तुमने पूर्व जन्म में बड़े अच्छे कर्म किये थे', तो साधना मुस्करा देती है, और ज़रा गम्भीर होकर कहती है— 'हूँ!' परन्तु उसका मन इसके विपरीत और ही कुछ कहता है-- 'पुण्य नहीं, पाप किये थे! जिन्हें ये सामग्रियाँ प्राप्त नहीं, वे कदाचित् मुझसे अधिक भाग्यशाली होंगी, मुझसे अधिक परितृप्त होंगी। उन्हें कुछ इच्छा तो होगी, चाहना तो होगी, आशाओं को स्थिर रखने के साधन तो होंगे, उनमें प्रेम-प्रदर्शन और मन की साधें पूरी करने की चेष्टाएँ तो होंगी, वे प्रेमी की प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए अपने अस्त्रों का प्रयोग तो करती होंगी। उनके पास आस होगी, उम्मीद होगी, दिल में हसरतें होंगी, जीवन में रस होगा। घर झाड़-बुहारकर साफ करती होंगी कि शाम को घर आकर खिल उठेंगे। अपना सारा प्रेम, सारी शक्ति खर्च करके भोजन बनाती होंगी,— इस आशा ही से तो कि भोजन करके एक बार मेरे गुणों पर मुग्ध हो उठेंगे। अपने शौक़ में, अपनी इच्छाओं में, अपनी उमंगों में कुछ और भी तो होता है? ज़ेवर-गहने की ज़िद में, चमकीली साड़ियों की चाह में, पति से छिपा कर सन्दूक में रखे हुए नोटों की गड्डी में कुछ और भी तो होता है?

यदि कोई कहने वाला ही न हो कि 'उस रोज जो धानी साड़ी पहनी थी, एक बार फिर पहन लो', तो चमकीली साड़ियों के बक्स के बक्स बेकार हैं। सौन्दर्य पर कोई बलि जाने वाला ही न हो, तो वह व्यर्थ नहीं तो और क्या है ? गुणों की कोई परख करने वाला ही न हो, तो वे गुण किस काम के ? रूप से, गुण से, अपने शरीर से, जीवन से यदि कोई प्रेम करने वाला ही न हो, तो उसे किस आशा पर बनाये रखने की उमंग हो ? उसका क्या उद्देश्य हो ? ससांर में कोई भी कार्य बिना लक्ष्य के नहीं होता। स्वार्थ के अन्दर भी कोई आशा छुपी होती है ; परन्तु उसके पास वह है कहाँ ? कुछ भी नहीं है, फिर किस अधार पर हृदय को शान्त करने की चेष्टा करे ? किस प्रकार अपने को वह 'भाग्यवान्' कहे ?

— २ —

साधना अपने अतीतकाल से अब तक, जहाँ तक उसे स्मरण है, अपने जीवन पर दृष्टि डालती है। छोटी थी, तभी से वह अभागी है। मा का वात्सल्य क्या है, जानती ही नहीं। मा की आकृति कुछ-कुछ याद है, उसी के आधार पर उसने एक कल्पित चित्र बना लिया है, जो बाल्य काल से अब तक उसके हृदय-मन्दिर में प्रतिष्ठित है।

जब मा की अरथी निकल रही थी, तब सभी साधना के मुँह की ओर देख कर रो रहे थे। साधना भी रोई, उसके चाचा ने दो पैसे की

जलेबी ले दी, और कहा— "रोना मत, तुम्हारी अम्मा तो गई, अब वह आयेगी थोड़े ही।"

साधना चुप होकर खाने लगी; परन्तु इस से क्या वह मा को भूल गई? रात में उसकी चाची नवीन को छाती से लिपटा कर सोती, तो साधना सोचती— "मेरी मा होती, तो मै भी उसकी छाती से चिपट कर सोती।"

मिठाई वाला आता है, सब लड़के पैसे के लिए अपनी-अपनी मा के पास दौड़ते हैं। साधना किवाड़ की ओट में छुप जाती है। यह बात नहीं कि मिठाई खाने को उसका जी न करता हो, पैसा भी बिना माँगे ही मिल जाता है; पर चाची से पैसा लेते संकोच होता है, शरम आती है। उसका बाल-हृदय यह अनुभव कर लेता था कि चाची पैसा देती तो है; पर प्यार से नहीं, गुस्सा होकर। ओह! जब नवीन उसे खींच कर पैसा दिलाने ले जाता, तो चाची दूसरों को सुनाकर कहती— "ज़रा इसका घमण्ड तो देखो! अभी से अपना-पराया समझने लगी है। किसी के बच्चे के लिए चाहे प्राण भी निकाल कर रख दो, फिर भी वह अपना नहीं होता।"

साधना और भी सकुचा जाती, और एकान्त में फूट-फूटकर रो लेती। कुछ और बड़ी हुई, तो घर के काम-काज सीखने लगी। साधना से कोई काम बिगड़ जाता, तो चाची सबके सामने उसकी हँसी उड़ाती। साधना सोचती— मा होती तो मार भले ही

लेती ; पर इस तरह लज्जित तो न करती । वह अनुभव करती— मैं अपने संग की और लड़कियों में सब से ज़्यादा होशियार हूँ, फिर भी मुहल्ले-भर में फूहड़ मशहूर हूँ । सभी मुझे उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं । कोई लड़की गुड़िया का एक बटुवा भी सीं लेती है, तो उसकी मा प्रशंसा से आकाश गुँजा देती है, सुननेवाले भी उसकी तारीफ करने लगते हैं ।

साधना का आदर करने वाला— उसका दुलार करने वाला— कौन है ? हाँ, इस अशान्ति के तूफान के बीच साधना का एकमात्र आधार उसकी बुआ है । बुआ जब कभी आती है तो साधना उसकी छाती से लिपट कर मन-भर रो लेती है । इस से उसे कुछ सन्तोष— कुछ शान्ति— मिलती है ।

एक दिन बुआ बोली— "बेटी, अधीर न हो, अब बड़ी हुई, चार दिन में ब्याह हो जायगा, पति का प्रेम पाकर सारा दुःख भूल जायगी ।"

साधना मानो सोते से चौंक पड़ी । मा के सिवा संसार में कोई और भी प्रेम करने वाला होता है ? अभी जीवन में प्रेम मिल सकता है ! उसकी मुरझाई आशा-लता खिल उठी । हृदय में नई शक्ति का संचार हुआ । अब वह बड़े उत्साह से प्रत्येक काम को सीखने लगी । वह पति का प्रेम पाने के योग्य बनना चाहती है ।

— ४ —

साधना सुसराल आई; पर यह क्या ? एक दिन, दो दिन नहीं, आठ दिन बीत गये ; पतिदेव ने सुधि भी न ली। साधना का कोमल हृदय धक-से हो गया। आशा का भवन डगमगाने लगा। रुपया, पैसा, ज़ेवर-गहने— क्या यही प्रेम है ? बुआ ने क्या इसी सुख की, इसी प्रेम की आशा दिलाई थी ? साधना क्या अब तक धोखे ही में थी ? उसका हृदय तो कुछ और ही चाहता है। यह क्या हुआ ? हाय ! बुआ ने व्यर्थ ही में उसके हृदय के भीतर यह आकांक्षा फूँक दी।

सर में चक्कर आ गया, साधना बेहोश होकर ज़मीन पर गिर पड़ी ; घर-भर में शोर मच गया। सास-ससुर, डाक्टर-वैद्य सभी इकट्ठे हो गये। मुँह पर ठंडे पानी के छींटे मारे गये। हवा की गई। होश हुआ, देखा— सभी लोग उसकी सेवा में लगे हैं। सासजी स्वयं पंखे से हवा कर रही हैं। साधना की इतनी खातिर ! ओठों पर क्षणिक मुस्कराहट दौड़ गई ; किन्तु उसी क्षण एक और ही याद आ गई। आँखें किसी को खोजने लगीं ; पर वह मिला नहीं। मुस्कराहट रफूचक्कर हो गई, धीरे-से एक आह खींची और तकिये में मुँह छुपा लिया। सासजी प्रेम से माथे पर हाथ फेरने लगीं, ननदें हँसी-दिल्लगी से मन बहलाने लगीं ; पर साधना को सन्तोष कहाँ ? सोचने लगी— ये लोग हट ही जायँ तो अच्छा है, एक बार खूब रो तो लूँ। थोड़ी देर में सचमुच ही सन्नाटा हो गया। साधना फूट-फूट कर रोने लगी। उसी समय दरवाज़ा

खुलने की हलकी आहट हुई। दम साध कर साधना ने देखा-- अरे, यह तो वही हैं; हाँ, शायद वही हैं!

उसके हृदय में दूसरी ही धारा बहने लगी। वह एक अज्ञात प्रेम-प्रवाह में ग़ोते लगाने लगी। सब-कुछ मिल गया, और चाहिए ही क्या?— "उःह! मै व्यर्थ ही अधीर हो रही थी।" अब साधना को अपनी उतावली पर लज्जा आने लगी, वह अपने अधैर्य को कोसने लगी, मानो उसके मन की बात उसका पति भी जान गया हो,-- वही नहीं, सारा घर जान गया हो। कैसी शर्म की बात है!

पतिदेव कहने लगे-- "मन तो हर समय तुम्हारे ही पास आने को करता है; पर शरम लगती है।"

साधना और भी लज्जित हो गई, परन्तु मन प्रसन्नता से भर गया,— तो पति के हृदय में उसके लिए स्थान है!

धीरे-धीरे फिर उसे प्रतीक्षा करते बहुत दिन बीत गये, पतिदेव के दोबारा दर्शन न हुए। उसका मन फिर निराशा के समुद्र में डुबकियाँ लेने लगा। हमजोलियों से सुना— "हम लोगों के हठ करने पर भी वे तुम्हारे पास नहीं आते, बड़े शरमीले हैं!"

साधना विचारों की धारा में लहराने लगी— "ईश्वर, यह कैसी शर्म है? शर्म की भी तो हद होती है। पुरुषों में ऐसी लज्जा उसने कहीं नहीं देखी। अवश्य ही वे नाराज़ हैं; पर मेरा दोष? दोष यही न, कि

उनकी विवाह करने की इच्छा न थी, घर वालो ने जबरदस्ती विवाह कर दिया है।" एक गहरी साँस लेकर साधना चुप रह गई। अपनी व्यथा किससे कहे ?

निराशा पर फिर आशा को विजय मिली। एक बार फिर पतिदेव से साक्षात् हुआ। इस बार साधना रोई, और खूब रोई। आँसुओं से पति का रूमाल भिगो दिया, मानो इन्ही आँसुओ द्वारा वह अपने हृदय का परिचय दे रही है— शिकायत कर रही है।

पति ने अपनी मधुर वाणी से साधना की सारी शंका दूर कर दी। अब कालेज खुलने वाला है, इसलिए विदा भी माँग ली। आज ही रात की गाड़ी से उन्हे जाना है।

साधना 'हाँ, हूँ' कुछ न कर सकी। मन कहता था, पूछ लो— "मुझ से नाराज़ तो नहीं हो ? पास होते हुए भी दर्शनों से वंचित क्यों रखा ?" पर पूछती कैसे ? जीभ को तो मानो लकवा मार गया था।

पतिदेव ने अनेक प्रकार से सान्त्वना दी ; और पत्र लिखते रहने का वादा करके चले गये। वह वादा ही तो साधना के लिए डूबते को तिनके का सहारा था ; परन्तु वह सहारा कब तक काम देता ? आशा का भवन फिर डगमगाने लगा— "तब तो पत्र लिखने के लिए इतने वादे किये, और अब मेरे पत्रों का उत्तर भी नहीं देते ! महीने-भर में क्या दो अक्षर लिखने की भी फुरसत नही मिली ? यह पहेली तो कुछ समझ में नहीं आती। वह मीठी-मीठी बातें क्या दिखावा ही थीं ?"

साधना के मन में कितने ही ऐसे प्रश्न उठते ; परन्तु प्रेम का प्यासा हृदय सुगमता से उन पर विश्वास कैसे करता ? आशा रानी उसके हृदय पर से अपना अधिकार क्यो उठा लेतीं ? निराशा का साम्राज्य क्यों कायम होने देती ? निराशा को कुछ प्रमाण एकत्रित करते देख आशा झट सामने आकर कहती— "नहीं, नहीं, निराशा बड़ी निठुर है, तुम उसके पजे में कदापि न फँसना। देखो, तुम्हारा पति कैसा सज्जन है, सुशील है, सदाचारी है। सभी उसकी प्रशंसा करते हैं। वह मनुष्य के रूप में देवता है। कहीं तुम्हें झूठा आश्वासन दे सकता है ? किसी कार्यवश पत्र नहीं लिख सका, अब पत्र आता ही होगा।"

उधर निराशा भी अपना पक्ष निर्बल होने देना न चाहती थी। वह कहती— "हाँ, आशा के शब्दों में बडा आश्वासन है, प्रोत्साहन है ; किन्तु साधना, तेरा पति विवाह करना ही नहीं चाहता था। क्या तूने सुना नहीं ? जबरन तेरे साथ उसका विवाह किया गया है। वह तो विवाहित जीवन से अलग ही रहने का इच्छुक था। फिर वह तुझसे प्रेम किस प्रकार करेगा ? वह सदाचारी है, संयमी है, यह हो सकता है कि तेरे प्रति अपने कर्तव्य का उचित रूप से पालन करता रहे। बस, इससे ज़्यादा उम्मीद न करना।"

साधना सोचने लगी— "यह तो सर पड़े की बला है। अब तो निबाहेंगे ही ; पर क्या मैं इतने से सन्तुष्ट हो सकूँगी ? हाय, मेरा अभाग्य ! इनके घरवालों को मुझे ही अपनी इच्छाओं का शिकार बनाना था ? प्रेमपात्री नहीं, मै तो तुम्हारे मार्ग का रोड़ा-बन गई।"

इसी प्रकार आशा-निराशा से युद्ध करते करते साधना ने वर्षों गुज़ार दिये। पति के किंचित् अनुराग का प्रकाश पाते ही वह खिल उठती और लापरवाही के तुषार से क्षण-भर ही में कमल की भाँति मुरझा जाती। अभी उसके एक आशा बाक़ी है, उसी पर तो वह डगमगाती हुई खडी है। वह सोचती है— "हम दोनों के मार्ग में घर की परतन्त्रता और पति की पढ़ाई बाधक है। जब वे दूसरी जगह कुछ काम करेंगे, पूरी आज़ादी मिलेगी, तब, सम्भव है कि मै उस सुधा का पान कर सकूँ, जिसके लिए मेरा हृदय तृषित है।"

— ५ —

दूसरे शहर में कारबार प्रारम्भ हुआ। लक्ष्मी भी प्रसन्न हुई और आज़ादी भी मिली; पर साधना की साध अब भी पूरी न हुई। उसने क्या नहीं किया? सब-कुछ कर लिया, सारी शक्तियाँ लगा दीं; परन्तु फल प्रतिकूल ही हुआ। रूप से, गुण से, साज-सिंगार से. सादगी से, छल से, कौशल से— किसी प्रकार भी वह पति के हृदय पर अधिकार प्राप्त न कर सकी।

वह सोचती— "कहीं मेरी चाहना संसार से परे की बात तो नहीं है? हो सकता है, तभी तो मेरी तृष्णा बुझती नहीं, तभी मेरा पति मेरी आकांक्षाएँ पूर्ण करने में असमर्थ है; नहीं तो जो दूसरों को सन्तुष्ट कर सकता है, औरों की भलाई कर सकता है, रात-दिन परोपकार में लगा रह सकता है, क्यों वह मुझे सन्तुष्ट करने की चेष्टा न करता?"

साधना जब यह विचार करती है, तो उसे अपनी चाहना अत्यन्त छोटी जान पड़ती है। साधना को साड़ियों की आवश्यकता होती है, तो नोटों की गड्डी के साथ नौकर की ओर इशारा होता है। फिर चाहे दूकान की दूकान खरीद लो, चिन्ता नहीं। आभूषणों के लिए पति से शिकायत करे, तो आज्ञा होती है — जो पसन्द हो, मँगा लो। चाहे समूचा सराफा खरीद डालो, पूरी आजादी है।

पर साधना को इससे सन्तोष नहीं होता। मनमानी कर के भी उसकी तृष्णा नहीं बुझती। मन कहता है— "एक सूती पाड़दार धोती ही अपने हाथ से लाकर दे देते, तो मै प्रसन्न हो जाती। इन बहुमूल्य आभूषणों के बदले यदि अपनी इच्छा से एक पीतल का छल्ला भी मेरी उँगली में पहना देते, तो मेरी सारी अकाक्षाएँ शायद पूरी हो जाती। बीमारी में यह जो सैंकड़ो रुपया बरबाद करते हो— नर्सों की तैनाती होती है, डाक्टर-हकीमों की भीड़ लग जाती है— यह कुछ न होता; केवल तुम प्रेम से एक बार मेरे माथे पर हाथ फेर देते, तो मेरी पीड़ा दूर हो जाती, मेरी सारी साध पूरी हो जाती। इच्छानुसार तुम्हारा धन लुटाती हूँ— दान-पुण्य करती हूँ; कीर्ति भी कमाती हूँ; मगर फिर भी सुख नहीं, सन्तोष नहीं, आनन्द नहीं! हाँ, तुम्हारा तनिक भी सहयोग पा जाती, तो यह संसार ही मेरे लिए स्वर्ग बन जाता। फिर न कोई इच्छा बाकी रहती, न चाहना। जीवन का सारा अभाव दूर हो जाता।

मगर यह तो पुरानी बातें हैं, अब तो साधना की सारी ही आशाएँ मिट गई हैं। कोई उम्मीद नहीं है, कोई आकाक्षा नहीं है। तुलसीदास

के इन शब्दों में— 'जेहि पर जाकर सत्य सनेहू, सो तेहि मिलै न कछु सन्देहू।'— उसे अब कुछ सार नहीं दीखता। वह अपने पति से जो कुछ चाहती है, पति उसे नहीं दे पाता ; और उसका पति उससे क्या चाहता है, यह वह जान ही नहीं सकती। जानना चाहती है, मगर जान नहीं पाती। अपनी व्यथा पति को सुनाना चाहती है, पर सुना नहीं सकती। जिस पीड़ा से वह तिलमिला उठती है, रोती है, कलपती है, तड़पती है, पागल बन जाती है, आहे भरती है, सिसकती है ; वही बात जब पति से कहने बैठती है, तो कुछ भूल-सी जाती है। फिर उन शब्दों में वह कसक रह ही नहीं जाती। दर्द मिट जाता है, आँखें सूख जाती हैं। दृढ़ता के बन्धन ढीले हो जाते हैं। वही बात, जो बिल्कुल स्पष्ट है, पवित्र है, हृदय का सच्चा उद्गार है— अन्दर की सुलगती आग है— न जाने कहाँ विलीन हो जाती है।

जिसे सुनकर उसका पति रो उठे, अपनी भूल को महसूस कर सके, साधना के हृदय की गहराई की थाह पा सके, वह कुछ नहीं हो पाता। उस समय सारे उच्छ्वास धीमे पड़ जाते हैं, शक्तियाँ मौके पर जवाब दे बैठती हैं, दुष्ट हृदय सारी व्यथा को एकाएक समेट कर न-जाने कहाँ छुपा लेता है, व्यथा-पीड़ा-कसक सब धुल कर साफ हो जाती है, विचारों की आँधी शान्त हो जाती है। उमड़ने वाले बादल— जो घिर कर हर समय घनघोर गर्जन करते हैं, और आँखों से मूसलधार बरसाते हैं— उस समय ऐसे विलीन हो जाते हैं, मानो अब आयेंगे ही नहीं ! ··· कुछ नहीं, मुँह से कहने में वह बात बिलकुल भद्दी हो जाती है। रोने

के बदले उसका पति हँस देता है। साधना की बातें उसे बिल्कुल ओछी जान पड़ती हैं। वह साधना को त्याग की ही सीख देने लगता है। इच्छाओं के दास न बनकर सादगी से रहने की नसीहत करता है।

वह कहता है— "तुम जानती ही नहीं, वास्तव में प्रेम क्या है। यह तो सब दिखावा-मात्र है। झूठ है। तुम्हारे लिए मेरे हृदय में शुद्ध प्रेम है। स्त्रियाँ दिखावे ही को प्रेम मानती हैं।"

साधना उस समय क्रोध से किटकिटा उठती है। अपने मनोभावों पर उसे क्रोध— भीषण क्रोध— उत्पन्न होता है। आँखों से चिनगारियाँ निकलने लगती हैं। आह! जो पीड़ा अन्दर-ही-अन्दर उसे जलाती है, वह प्रकट क्यों नहीं होती? जिसके लिए कुढ़ती है, रात-दिन रोती है, वह बात मुँह से क्यों नहीं कह पाती? उसके पास शब्दों का अभाव क्यों है?

उसका मन विद्रोही हो उठता है। मन चाहता है, चिल्लाकर कह दे— "तुम मुझसे प्रेम करते हो! झूठ! बिलकुल झूठ! हर्गिज सच नहीं हो सकता। कपट है, दम्भ है, छल है, प्रवञ्चना है, अभिसन्धि है! तुम मेरी आकांक्षाओं को वासना में लिप्त ठहराते हो— मुझे इच्छाओं का गुलाम ठहराते हो? वाह री तुम्हारी समझ! अरे, मेरी आकांक्षाएँ! मेरी उमंगें! तुम्हारी कल्पना से परे की बातें हैं। भले ही तुम साधु हो, महात्मा हो, स्त्री के हृदय की बात तुम नहीं जान सकते, तुम्हें तो वह गुण भी दूषण ही दीखेगा।"

साधना के पति को केवल उसके क्रोध की ही झलक दिखाई देती है। वह बेचारा उसके हृदय की बात कैसे जाने ?

साधना जानती है, यह झलक ही उसका और भी अहित कर डालती है। वह पति की दृष्टि में उसे उच्च ठहरने ही नहीं देती ; परन्तु वह करे तो क्या ?

– ६ –

बेबस साधना अब क्या करे ? कुछ नहीं। वह निराश हो चुकी है। उसकी सारी उम्मीदें ख़ाक में मिल चुकी हैं, सारी चेष्टाएँ निष्फल हो चुकी हैं, सारा साधन निबट चुका है, सारी हसरतें मिट गई हैं।

बस, अब उसे एक काम और करना है— बदला लेना है, आशा का अन्त करना है, निराशा का अन्धा कुआँ खोदना है। आशे, सावधान। साधना तुमसे बदला लेगी, तुम्हें पराजित करके रहेगी। अब उसके जीवन का यही लक्ष्य होगा, यही ध्येय होगा। जीवन से हँसी को निकाल कर फेंक देगी। उसका विजय-गान होगा रोना। उसका आनन्द, उसका सुख, सब-कुछ अब रोना होगा। उसके विजयी झण्डे का चिह्न होगा रोना— केवल रोना !

सुख, शान्ति, कीर्ति, सम्पत्ति— नहीं, उन्हें पाने की अब उसे चाह नहीं। अब उसकी चेष्टा होगी विप्लव मचाना, आग सुलगाना— वह आग, जो कभी न बुझे, कभी ठंडी न हो। आँधी में वह पली है,

तूफ़ानों ही में घर बनायेगी। पति से फिर कौशल रचेगी, उन्हें प्रमाणित कर दिखायेगी— साधना को अब तुम्हारी चिन्ता नहीं— बिल्कुल नहीं। वह तुमसे अब प्रेम नहीं करती। इसी तरह तो वह बारूद जमा करेगी! जो हृदय प्रेम-सुधा पान करने को तृषित था, उसे इसी बारूद से भस्म कर देगी। हृदय की मधुर आकांक्षाओं को इसी आग से भून डालेगी। उन आँखों के घमण्ड को, जो अपने मोतियों को बड़ा क़ीमती मानती हैं, जिन्हें अपने मोतियों पर बड़ा अभिमान है, वह नष्ट कर देगी, उन आँखों को बता देगी— बूँदें नहीं, चाहे दरिया भी बहा दो, तो भी कोई पिघलनेवाला नहीं, कोई तुम्हारे मोतियों का मूल्य आँकनेवाला नहीं। रोओ, खूब रोओ! तुम्हारे उन ढलकते आँसुओं को यह व्यर्थ करके रहेगी, किसी को उन्हें रूमाल में जमा करने की ज़रूरत न होगी।

साधना का पति अब रूठ जाता है, तो वह उन्हें मनाती नहीं, मानो उसे जरूरत ही नहीं; परन्तु पति के घर से बाहर जाते ही रोती है, कमरा बन्द करके खूब रोती है। हृदय के जिन भावों को प्रकट करने में वह सारी शक्ति लगाने को तुल जाती थी, अब सारी शक्ति लगाकर उन्हें छुपा डालना चाहती है, उन भावों का खून कर डालना चाहती है।

इसी प्रकार रोते-रोते वह मिट जाना चाहती है। जन्म की अभागी जन्म-भर अभागी ही रहना चाहती है। इसी मार्ग का अवलम्बन करके वह शान्त हो सकेगी। इस भयंकर यज्ञ में अपनी सारी प्रिय आकांक्षाओं

की आहुति देकर उसकी समिधा बनेगी, अशान्ति-वह्नि की उठती लपटों में ही वह भस्म हो जायगी।

परन्तु, उसे एक आशंका ने— भयंकर आशंका ने— भयभीत कर दिया। आवाज़ आई— "साधना! तू जो आग सुलगा रही है, उसकी कोई लपट कहीं तेरे पति तक न पहुँच जाय! सावधान! कहीं तू उसका कुछ अहित न कर बैठे!"

हृदय में एक हूक उठी, नवीन वेदना का जन्म हुआ, शरीर में कँपकँपी आ गई, दिल धड-धड धडकने लगा।

साधना ने अपने से प्रेम करना छोड़ा है, किन्तु पति से नहीं। वह स्वयं अशान्ति की चक्की मे पिसना चाहती है, अपने हृदय में आग सुलगाना चाहती है और खुद भी उस आग में जल जाना चाहती है; परन्तु अपने प्रियतम पर ज़रा भी आँच आने देना नहीं चाहती।

साधना इसका क्या उपाय करे? अब उसका मस्तिष्क काम नहीं देता। क्या वह निराशा को अपनाकर भी शान्त न हो सकेगी? घुट-घुट कर मर भी न सकेगी? अपनी हसरतो की क़ब्र भी न बना सकेगी? मस्तिष्क काम नहीं देता। वह उन्मत्त होकर चिल्ला उठती है— "हे भगवन्, कहाँ हो तुम? सुनो, मेरी पुकार सुनो। मेरे पति की रक्षा करो, उन्हे शान्ति दो, सन्तोष दो, सुख दो, और उन पर आने वाले सारे दुःख-क्लेश, शोक-ताप मुझे दे

दो। मै उन्हे सहेज-सहेज कर रखूँगी। उन पर आने वाली विपत्तियों के बादल मुझ पर घिर आये, दुःख-कष्ट की घातक बिजलियाँ मुझ पर टूटे, अशान्ति की आँधी मुझे उखाड़ फेंके; पर उनका कुछ न बिगड़े।"

बस, यही साधना का उन्माद है।

भ्रम

हम दोनों में धीरे-धीरे मित्रता हो गई। मगर मित्र होते हुए भी एक दूसरे के स्वभाव से भली भाँति परिचित न थे। दूसरों के लिये तो हमारी मित्रता का अनुमान करना बहुत मुश्किल था। एक घर में रहते हुए भी एक दूसरे से बहुत कम मिलते-जुलते, फिर भी मित्र थे। एक दूसरे के प्रति स्नेह था, अनुराग था और थी श्रद्धा।

सतीश के लिये मेरे हृदय के किसी कोने में यह अनुभूति छिपी बैठी थी कि वह सत्पुरुष है, उस के विचार पवित्र और उच्च हैं। उस के रहन-सहन में अत्यन्त सादगी थी, मुँह पर पवित्रता की आभा झलका करती थी। मुझे उस की सादगी ही ऐश्वर्य-समान प्रतीत होती थी।

मेरी तीव्र अभिलाषा थी, सतीशके संसर्ग से लाभ उठाऊँ ; परन्तु वे अवसर ही न देते। वे ऐसे पढ़ने के धुनी थे कि दिन-रात पुस्तको ही में तल्लीन रहते। मुझे कभी अपने साथ वे सिनेमा, थियेटर या सैर को ले जाते, तो मैं विशेष आनन्द का अनुभव करती। पर ऐसा अवसर बिरले ही दिन मिलता। उन्हें पुस्तकों से अवकाश कहाँ ?

मेरी बुद्धि बड़ी विलक्षण थी। जो कुछ पढ़ती, शीघ्र याद कर लेती। इस कारण पुस्तको के पन्ने अधिक न उलटती। पढ़ने से जो कुछ बाक़ी समय बचता, सतीश ही के लिए खर्च करना चाहती। स्कूल से आकर उनके लिए अपने हाथ से गरम-गरम नाश्ता तैयार करती। कभी वह मुस्कराकर कह देते— "माधवी, तुम तो अन्नपूर्णा हो !" प्रशंसा के इस छोटे-से वाक्य से परीक्षा में उत्तीर्ण होने से कम आनन्द न होता था। इस प्रकार मन की श्रद्धा-भक्ति से दिन बीत रहे थे।

मेरे पिता जी सम्पत्तिशाली थे। हम दोनो बहनों के सिवा उनकी सम्पत्ति का अधिकारी कोई और न था। असमय में ही माता-पिता मेरा भार बहन-बहनोई को सौंप कर इस दुनिया को छोड़ चुके थे। परन्तु माता-पिता ही की भाँति मेरे भाई साहब (जीजा जी) और बहन जी दोनो मुझ से स्नेह करते थे। उन के हृदय में सदा मेरे प्रति करुणा के भाव जाग्रत रहते, वे सदा ऐसी कोशिश करते, जिस से मुझे माता-पिता का अभाव अनुभव न हो।

भाई साहब के अपने परिवार मे भी एक विधवा चाची तथा उन के पुत्र सतीश के सिवा और कोई न था। सतीश पढ़ाई के कारण हम लोगों के साथ लखनऊ रहते थे ; पर उनकी माता जी किसी प्रकार पूर्वजो का स्थान छोड़ने को तैयार न थीं, इसलिए वे बाराबंकी ही में रहती थीं। वे आदर्श महिला थीं, उनके जीवन का ध्येय कंगालों और पीड़ितो की सेवा करना था। अपने सेवा-भाव से वे बाराबंकी के आस-पास के गाँवों में भी प्रसिद्ध थीं। कदाचित् माता-पिता के गुण पुत्र में भी विद्यमान थे।

– २ –

शरद्‌ऋतु का आगमन था। शहर में खूब बीमारी फैल रही थी। एक दिन मुझे भी ठंड लगकर बुखार आ गया। घर में मै और सतीश दो ही जने थे। भाई साहब बहन जी को लेकर सैर की इच्छा से बम्बई गये थे। सतीश अपना पढ़ना-लिखना छोड़ कर मेरी सेवा-सुश्रूषा में लग गये। क्षण-भर के लिए भी वे मेरी शय्या के पास से हटते न थे। मुझे आश्चर्य होता, कैसे ये मेरे लिए अपना अमूल्य समय नष्ट कर रहे हैं, इन्हे तो पढ़ाई के आगे खाने-नहाने की भी सुध न रहती थी।

पाँच दिन इसी हालत में बीत गये, बुखार कम न हुआ। रात में मेरे सिर में बड़ा दर्द होने लगा ; मै पीड़ा से बेचैन थी। सतीश ने पूछा— "माधवी, क्या बहुत ज़्यादा दर्द है? सिर दाब दूँ?"

—"तुम सो रहो, कई रातों से जाग रहे हो।"

—"तुम दर्द से बेचैन रहो, और मैं सो जाऊँ?"

वे सिर दबाने लगे, मैं मना न कर सकी। उनके कर-स्पर्श से मेरे सारे शरीर में बिजली-सी दौड़ गई। जो अंकुर जड पकड़ चुका था, स्नेह का सिंचन पाकर उभर आया। मैं अपने हृदय के स्पन्दन को छिपा न सकी। वाणी मौन धारण किये थी; परन्तु आँखों ने हृदय निकाल कर सामने रख दिया। कई रातों बाद, मालूम नहीं कब, मैं सतीश के घुटने पर सिर रखकर सो गई। पूरी रात भी न बीती थी, प्रातः चार बजे के लगभग आँखें खुलीं तो देखा, सतीश उसी तरह बैठे हैं। मुझे जगा देखकर बोले— "अब तबीयत कैसी है?"

—"अच्छी है, तुम रात-भर क्या ऐसे ही बैठे रहे? जरा लेटे भी नहीं?"

—"मेरी फिक्र न करो, दिन में सो लूँगा, मुझे तो रात तुम्हारी दशा से बड़ी चिन्ता हो गई थी।"

—"हाँ, रात तकलीफ ज्यादा थी, अब तो तुम्हारी दया से बहुत कम कष्ट है।"

—"नहीं माधवी, दया तो तुम्हारी ही है।"

—"उलटी बात!"

वह कुछ बोले नहीं, मेरी ओर देखकर ज़रा मुस्करा दिये। न-मालूम उस दृष्टि में कैसा आकर्षण था, मेरा मन जाने कैसा होने

लगा। लज्जा से मेरे सारे शरीर में रोमाच हो आया। पहले तो कभी मुझे ऐसी लज्जा न हुई थी! मैंने अपनी आँखे तकिये में छुपा ली।

* * *

उस दिन से हम दोनो मे कुछ नवीनता आ गई थी। अपने से अधिक मै सतीश मे परिवर्तन देखती। अब उन्हे मेरे पास बैठकर गपशप करना शायद पुस्तको से अधिक रुचने लगा था। मै स्वस्थ हो गई, फिर भी मेरी बीमारी का बहाना ले, वे कालेज न जाते। मुझे भी उनके पास बने रहने से बड़ी प्रसन्नता होती। पर दो ही चार दिन के अनुभव से मै यह अच्छी तरह समझ गई कि अगर हम लोगो का यही ढंग बना रहा, तो पढ़ाई-लिखाई सब खतम हो जायगी। मै मन में सोचने लगी— बहन जी देखेगी तो क्या कहेगी? प्रेम का अर्थ तो यह नहीं है कि मनुष्य अपने आदर्श से गिर जाय। जीवन के प्रत्येक कार्य मे सयम और साधना की आवश्यकता होती है। जिसमें शान्ति और धैर्य का अभाव है, वह अपनी मर्यादा का पालन कदापि नहीं कर सकता। प्रेम मर्यादा का परिपालक है, सहारक नही। मैंने निश्चय कर लिया कि जब तक विवाह न हो, हम लोग उसी तरह रहेगे, जैसे अब तक थे।

— ३ —

एक दिन संध्या के समय मै सतीश के कमरे की सफाई कर रही थी। रद्दी छाँटने में मुझे एक लिफाफे में किसी परम सुन्दरी तरुणी का चित्र मिला, जिसे देखकर मै एकाएक चौक-सी पड़ी।

सतीश के पास यह चित्र किसका .हो सकता है ? उन्हे तो चित्र एकत्रित करने का व्यसन भी नहीं दीखता। कमरे में महात्मा गाधी, तिलक आदि के दो-एक चित्रों के सिवा और कोई चित्र न था। जितना ही सोचने लगी, मन उतना ही अधिक चंचल होने लगा। एकबारगी विचार उठा, हो सकता है कि किसी ने अपनी कन्या का विवाह-सम्बन्ध स्थिर करने की इच्छा से यह चित्र भेजा हो। सतीश ने इस अनुपम सौन्दय की रूपराशि को क्यों ठुकरा दिया ? ऐसा रूप बिरले ही को प्राप्त होता है।

मेरा मन कहने लगा—"शुद्ध प्रेम के आगे रूप कुछ भी सामर्थ्य नहीं रखता।" मेरे मन मे आनन्द की लहरे उठने लगी, ओठों पर मुस्कराहट आ गई। इस तरुणी का परिचय जानने को हृदय उत्सुक हो उठा। मै उस पत्र को खोलकर पढ़ने लगी। बनारस से किसी ने लिखा था :—

"प्रियतम,

बड़ी लम्बी प्रतीक्षा के बाद तुम्हारा प्रिय पत्र मिला। पत्र देर से लिखने का कारण तुमने लिखा है— 'तुमने अपना चित्र क्यो नहीं भेजा ?' लो, अब भेज रही हूँ, अब तो ऐसी घोर प्रतीक्षा करा कर दुःखी न करोगे ?

उफ ! तुम बड़े निर्दयी हो, मेरे हृदय की व्यथा क्या समझोगे ? एक तो बहुत दिनों से दर्शनों से वंचित रख रहे हो, और उस पर जल्दी-

जल्दी चिट्ठी न लिख कर दूना दुःख बढ़ा देते हो। जाओ, आज मैं भी और कुछ न लिखूँगी।

तुम्हारी— सरोज।"

पत्र पढ़ कर मेरा सर चकरा गया, मैं वहीं ज़मीन पर बैठ गई। यह क्या, सतीश के पास ऐसा पत्र क्यों? कोई इन के पते से मँगाता, तो कम-से-कम लिफ़ाफे पर उस का नाम तो होता। फिर अपना ऐसा गोपनीय पत्र क्यों किसी के पास छोड़ देता? बुद्धि कुछ काम नहीं देती, हो न हो, इस में कुछ रहस्य है। मैं अपने भाग्य और भगवान को कोसने लगी। सतीश के प्रति अनेक प्रकार के कुविचार मेरे मस्तिष्क में उठने लगे।

परन्तु फिर सोचने लगी— उन के चरित्र पर सन्देह कर के मैं अन्याय कर रही हूँ। उन के आचरण में कदापि कोई त्रुटि नहीं हो सकती। ऐसे देवतुल्य पुरुष के लिए सन्देह का अंकुरित होना उचित नहीं है। मैं व्यर्थ ही चिन्ता में पड़ी हूँ। क्यों न अभी चल कर उन से पूछ लूँ? उन से दुराव कैसा? परन्तु दूसरे ही क्षण फिर वही भाव उत्पन्न होने लगे। इस दुविधा में पड़ कर मन बहुत ही खिन्न हो गया, कोई भयंकर ज्वाला मेरे हृदय को जलाने लगी। बुद्धि कहती, सन्देह के प्रत्यक्ष प्रमाण सामने हैं; पर हृदय अपने दृढ़ विश्वास पर अटल था। सतीश, मैं तुम्हारे साथ अन्याय कर रही हूँ। कैसे मान लूँ कि तुम्हारा प्रेम शुद्ध प्रेम नहीं। विश्वासघात है? कदापि नहीं। मेरे साथ तुमने तो कभी कोई कठोर व्यवहार नहीं किया। मैं जानती हूँ, कितने दिनों से तुम

मुझे चाहते हो ; फिर भी जब तक मैंने अवसर नहीं दिया, कुछ भी प्रकट होने न दिया। इन्हीं विचारों में डूबते-उतराते रात बीत गई, मैं निश्चय न कर सकी कि सतीश से कुछ पूछूँ या नहीं।

और भी कई पत्र मेरे हाथ लगे। अब सन्देह के यथेष्ट प्रमाण मौजूद थे, फिर भी सतीश से पूछने का साहस न हुआ। मेरी सारी प्रसन्नता लोप हो गई। उदासी छिपाने की कोशिश करती, पर छिपा न सकती। सतीश अवसर मिलते ही पूछते— "माधवी, तुम्हें हो क्या गया है ? किस चिन्ता में डूबी रहती हो ? मुझ से तो कुछ अपराध नहीं हो गया ? बात ही नहीं करती हो, जैसे मेरी सूरत से डरने लगी हो। मुझ से तुम्हारा यह उदास चेहरा देखा नहीं जाता।"

मैं उलटा-सीधा उत्तर देकर भाग खड़ी होती। वह बात करने की ताक में रहते, मैं मौक़ा ही न आने देती।

— ४ —

रात में दो बजे के लगभग आँख खुल गई। देखा, सतीश दोनों हाथ मेरी चारपाई पर रखे ज़मीन पर बैठे हैं। वे आँखों में आँसू भरे एकटक मेरी ओर देख रहे हैं। इधर कई दिनों से मेरा उनसे साक्षात् न हुआ था, इतने ही दिनों में कितना अन्तर हो गया। निशीथ रात्रि में बत्ती के उस कृत्रिम धुँधले प्रकाश में, मैंने उनका फीका-ज़र्द चेहरा देखा ; देखकर मेरे हृदय में बड़ा-भारी आघात लगा। मैं मन्त्रमुग्ध-सी

उनकी ओर निहारती रही ; दोनों में से कोई कुछ बोल न सका । मैं चारपाई से नीचे उतरकर खामोश खड़ी हो गई ।

सतीश ने मेरा हाथ पकड़ कर अपनी ओर खींचने की विफल चेष्टा की । उनके इस व्यवहार मुझे क्रोध आ गया । जो भाव क्षण-भर पहले जाग्रत हुए थे, न-जाने वे कहाँ लोप गये । हाथ छुड़ाते हुए मैंने कहा— "आधी रात में, चोरों की तरह मेरे कमरे मे आते तुम्हें शरम नहीं आई । अपने हृदय से तो पूछो— तुम कहाँ हो ?"

—"माधवी, मै कहाँ हूँ और कहाँ था, मुझे कुछ नहीं मालूम । मैं तो तुम्हीं से पूछने आया हूँ । बताओ, मै कहाँ हूँ ? बताओ, मेरे किस अपराध का तुम दंड दे रही हो— क्या तुम सचमुच मुझसे घृणा करने लगी हो ?"

—"हाँ ।"

—"हाँ !— किसलिए ? अपने मुख से कारण बता दो । फिर मै कभी अपना मुँह न दिखाऊँगा ।"

—"अभी उसका समय नहीं आया, अभी मै कुछ नहीं कह सकती, कृपाकर आप अभी लौट जाइये ।"

सतीश गहरी साँस लेकर धीरे-धीरे कमरे से निकल गये । क्रोध, और इस भय से कि पास ही बहन जी का कमरा है, कहीं आ न जायँ, सतीश से यह शब्द तो मैंने कह दिये ; पर क्षण-भर बाद ही मेरा हृदय

व्यथित हो उठा। अपना व्यवहार कठोर और रूखा जान पड़ा। सब जानकर भी उन पर अविश्वास करने का मन नहीं चाहता। उनकी यह दशा क्यों हो गई? कैसे जानूँ कि उनके मन में क्या है। उनकी आँखों में कपट के आँसू थे या व्यथा के? कुछ भी हो, मुझे ऐसा दुतकारना न न चाहिये था। मेरा मन भी पाषाण से कम कठोर नहीं है। मैं सीधे बोली तक नहीं!

किसी प्रकार रोते-कलपते सो गई। सुबह कुछ मधुर स्वप्न देखते आँख खुली। चित्त कुछ प्रसन्न जान पड़ा, पैर आप ही आप सतीश के कमरे की ओर चलने लगे। बराडे ही में रुक गई। देखा, सतीश मोटर पर बैठे कहीं जाने को तैयार हैं। मेरा दिल ज़ोर-ज़ोर से धड़कने लगा— 'कहाँ जा रहे हैं?'— मैं सोचती ही रही, मोटर सर-से चली गई। मैं अपना हृदय थाम कर वहीं बैठ गई।

— ५ —

शायद सतीश मुझ से निराश और असन्तुष्ट होकर बिना कुछ कहे बाराबंकी चले गये। मैं अभागी इस सोच-विचार ही में रही— क्या करूँ, पहले पत्र में सब बाते लिखूँ, या बाराबंकी जाऊँ? पर उन्हें भी तो पत्र लिखना चाहिये। सम्भव है, वह समझ गये हों कि उनकी भीतरी बातें मैं सब जान गई हूँ। ओह! इसीलिए मुँह छिपाकर चल दिये। इसी उधेड़-बुन में छुट्टियाँ बीत गईं, मैं मैट्रिक में पास हो गई। उसके बाद भाई साहब की सलाह से मैं बनारस वसन्त-आश्रम का प्रबन्ध करने लगी।

भाई साहब ने सतीश को लिखा कि मैं बनारस जा रही हूँ, फिर भी वह नहीं आये ; लिख दिया— "यहाँ गाँवों में बीमारी फैल रही है। गाँव वालों की दशा अत्यन्त दयनीय है, मैं यथाशक्ति उनकी सेवा में लगा हुआ हूँ।··· इस वर्ष कालेज जॉइन करने का भी विचार नहीं है।"

मैं अपना सम्पूर्ण व्यथा का भार सँभाले, एक बार उन्हें आँख-भर देखने को तरसती-सी बनारस चल दी।

बनारस में सरोज से भेंट हुई। घर शहर से बहुत दूर होने के कारण वह होस्टल ही में रहती थी। मालूम नहीं दुर्भाग्य से या सौभाग्य से, उसके कमरे के पास ही मुझे कमरा मिला। फिर भी मैं उस से दूर रहने की कोशिश करने लगी। मैं उसके सरल स्वभाव पर तो मुग्ध थी ; पर ऐसी उदारता मुझ में कहाँ थी कि मैं उससे मित्रता का व्यवहार करती ; पर, शायद, मनुष्य जिस ओर से उदासीन रहने की चेष्टा करता है, उसी ओर उसका मन ज्यादा आकर्षित होता है। मेरे लाख उदासीन रहने पर भी सरोज ने मुझे बिना अपना मित्र बनाये न छोड़ा। मैं चाहती तो सरोज के हृदय की सारी बात जान लेती ; पर मैंने कभी कोशिश नहीं की, इसीलिए कि कहीं उसे सन्देह हो गया, तो बेचारी को बहुत क्लेश होगा।

* * *

किसी प्रकार बनारस में भी तीन-चार महीने बीत गये। इधर कुछ दिनों से सरोज भी उदास रहती थी। जिस चेहरे पर हँसी हर समय नृत्य करती रहती, वह अब मुरझाया दीखता था। कुछ दिनों में ऐसा अन्तर

हो गया कि जो देखता, यही प्रश्न करता,— 'सरोज, तुम्हे कोई रोग तो नहीं हो गया ?'

सरोज — 'कुछ तो नहीं'— कहकर चुप हो जाती। मुझे उस की इस दशा से बडी चिन्ता हुई और कौतूहल भी। अब मैं अपने को रोक न सकी। मैंने सरोज से पूछा— "सरोज, तुम इतनी उदास क्यों रहती हो ? अपने मन की बात मुझ से कहोगी ?"

—"क्यों नहीं कहूँगी बहन, मै तो स्वयं ही तुम से सलाह लेने का विचार कर रही थी। शायद मेरी चिन्ता मिटाने का तुम कुछ उपाय बता सको ?"

—"बोलो क्या बात है ?"

"पर तुम मेरी निर्लज्जता पर हँसना मत।"— उस ने धीरे-से कहा— "मैं अपना हृदय किसी को भेट कर चुकी हूँ।"

आगे जो कुछ सुनना था, मानो मेरे कानों में गूँजने लगा। रोकने की कोशिश करने पर भी शरीर में कँपकँपी आ गई। मुँह दूसरी ओर फेर कर मैंने कहा— "अच्छा, यह बात है ! वह भाग्यशाली कौन है, मै भी तो सुन लूँ !"

—"पहले मेरी चिन्ता का कारण तो सुनो।"

—"कहो।"

—"एक माह के लगभग हुआ, कितने पत्र लिख चुकी, उत्तर ही नहीं आता।"

—"किसी कार्यवश न लिख सके होंगे।"

—"ऐसा क्या काम हो सकता है ! मुझे पत्र-व्यवहार करते एक वर्ष से ज्यादा हो गया, अब तक कभी ऐसा नहीं हुआ। एक बार मेरे चार पाँच पत्र बीच ही मे खो गये, उन तक पहुँचे ही नहीं ; तब वे बनारस मेरे पास आये थे।"

मैं सोचने लगी, सतीश बाराबंकी से यहाँ आये होंगे ; पर मै अपना भाव छिपा कर बोली— "अच्छा ! यहाँ तक नौबत पहुँच चुकी है ! तब तो सरोज, तुम दोनों के घरवालों को भी मालूम हो गया होगा। किसी और के मारफत पत्र लिख कर समाचार मँगा लो।"

—"नहीं बहन, आज तुम से यह बात कही है, और किसी को कुछ नहीं मालूम।"

—"तुम चोरी से पत्र-व्यवहार कैसे करती हो, किसी को मालूम हो जाय तो ?"

—"मेरे घर वाले कुछ न कहेगे, वे मेरे बचपन के मित्र भी तो हैं। हाँ, वे अवश्य अपने घर वालों से छिपा कर पत्र भेजते हैं। पहले अपने एक मित्र के पते से मँगवाते थे, जब से मेरे पत्र खो गये, तब से घर ही के पते से मँगवाते हैं ; पर कुछ ऐसा प्रबन्ध कर रखा है, जो किसी को कुछ मालूम न हो।"

—"तो ऐसा षड्यन्त्र रचने की ज़रूरत ही क्या है ? अब ब्याह ही क्यों नहीं कर लेतीं ?"

—"उस में एक कारण है, उन के माता-पिता दूसरी जाति में ब्याह करने को राजी न होंगे, इस लिए उन्होंने मुझ से प्रतीक्षा करते रहने को कहा है। पढ़ाई समाप्त कर, जब वे घरवालों की आधीन न रह कर कुछ पैदा करने लग जायँगे, तो घरवालों को अनिच्छा होने पर भी विवाह कर सकते हैं। और दूसरा उपाय ही क्या है ? देखना बहन, किसी से इस बारे में कुछ कहना नहीं।"

—"तुम्हारी उनसे मित्रता किस तरह हुई ?"

—"मेरे मकान के पास ही उनके नाना का मकान है, वहीं वह आते हैं। बचपन ही से एक दूसरे के प्रति स्नेह था, प्रेम था। धीरे-धीरे उस प्रेम ने आज यह रूप धारण किया है।"

अब मुझे सन्देह हुआ। क्या रहस्य है ? अब की तो सतीश ने बी० ए० होने पर कालेज में पढ़ना ही छोड़ दिया। उनका यहाँ कोई सम्बन्धी भी नहीं। जब से बनारस कालेज छोड़ा, फिर शायद कभी बनारस आये भी नहीं। मेरे मुँह से निकल गया—"हाँ, तुम तो सारी रामायण बाँच गई; पर यह न बतलाया कि राम कौन हैं ? ज़रा नाम तो बताओ। जब वे लखनऊ में ही रहते हैं, तो उनका समाचार मँगा लेना मेरे लिए कोई मुश्किल बात नहीं है।"

"उनका नाम ? .."—कहकर सरोज कुछ देर तक अन्यमनस्क-सी रही, बोली नहीं। फिर उसने काँपते हुए हाथ से अपने हृदय के पास से

एक छोटी-सी तसवीर निकाली— उसके नीचे अंगरेज़ी में लिखा था— 'रामकिशोर गुप्त'।

सारा रहस्य मेरी समझ में आ गया। उन्हें मै जानती थी, वे सतीश के घनिष्ट मित्र थे।

अब तक शायद मुझे उस ढीठ सन्देह ने ही स्वस्थ बना रखा था। उसक हटते ही मेरी देह आश्रयहीन लता की तरह सरोज से लिपट गई। जब चेतना आई, तो मैंने देखा, सरोज को मेरी इस दशा से बड़ा आश्चर्य हुआ है! वह ज़ोर से मुझे हिलाते हुए बोली—"माधवी, तुम्हें हो क्या गया? क्या तुम उनको जानती हो, जल्दी बताओ, तुमने उनके बारे में कुछ सुना है?"

सरोज के चेहरे पर किसी अशुभ आशंका की एक रेखा-सी दौड़ गई। मैंने कहा— "चिन्ता की कोई बात नहीं। मैं सच कहती हूँ,— एक गिलास पानी दो, मुझे प्यास लगी है,— तुम्हारे खोये हुए पत्र, तुम्हारा खोया हुआ प्रेम— सब तुम्हें मिल जायगा।"

सरोज आश्चर्य-चकित होकर मेरा मुँह निहारने लगी। मैं सोचने लगी— अपने प्रेमी के लिए क्या सब के मन में सन्देह ही उत्पन्न होता है!

धीरे-धीरे मैंने अपने प्रेम और उन पत्रों की अद्योपान्त सारी कहानी कह डाली।

दूसरे दिन ही मैं बनारस छोड़कर बाराबंकी को चल दी।

– ६ –

जिस समय मैं सतीश के घर पहुँची, गोधूलि का समय था। सतीश अपनी फुलवारी में एक लता-मंडल के पास बैठे गाय के बच्चे से खेल रहे थे। धीरे-धीरे मैं सतीश के पास जा खड़ी हुई। अचानक उनकी दृष्टि मुझ पर पड़ी।

—"कौन, माधवी!"

उत्तर देने का तब मुझ में साहस कहाँ था! मेरी तो राह-भर वह दशा रही, जो किसी परीक्षार्थी की परीक्षा के निमित्त जाते समय भी न होती होगी। उनके पास तक पहुँच गई, यही कौन कम साहस का काम था!

मैं उनके पैरों से लिपट गई। हम दोनों के हृदय बडी देर तक रोते रहे। हृदयावेग कुछ घटने पर, बहुत देर बाद, रूमाल से मेरे आँसू पोंछते हुए उन्होंने काँपते हुए स्वर में कहा— "माधवी, इन आँसुओं से मुझे अधीर मत करो। किस लिए इतने दिनों तक तुम मुझ से रूठी रहीं, मैं अब तक न समझ सका। फिर भी, मै निश्चित जानता था कि एक-न-एक दिन मेरी आराध्य-देवी प्रसन्न होंगी ही। उस दिन, रात की घटना के बाद तुम्हें छेड़ने का साहस न हुआ; इसी से पत्र भी न लिख सका। दूर ही से मैं अपनी आराध्य-देवी को प्रेमार्घ्य

देकर अपने व्यथित हृदय को सन्तोष देता था।··· माधवी, उस दिन की घटना ने स्वयं मुझे अपनी दृष्टि में गिरा दिया। अब मै समझ पाया हूँ कि मै कहाँ था और कहाँ हूँ।"

मैने आत्म-कथा सुना कर उनसे क्षमा माँगी।

दोनों उलझे हुए हृदय सुलझ कर एक हो गये।

— ७ —

लखनऊ पहुँच कर जो कुछ सुना, उससे मुझे दुःख और चिन्ता हुई। रामकिशोर के माता-पिता को किसी तरह इस गुप्त प्रेम का रहस्य मालूम हो गया। पुत्र के यह इच्छा प्रकट करने पर कि 'मैं सरोज से विवाह करूँगा', माता-पिता के क्रोध का पारावार न रहा।

रामकिशोर को माता-पिता ने बहुत समझाया, डाँटा-फटकारा और अन्त में पिता ने सम्पत्ति से वंचित करने की भी धमकी दी; पर उसका कोई असर न हुआ। अन्त में पिता को एक दिन कहना ही पड़ा— "मेरे घर से निकल जा, तेरे लिए मैं समाज में अपना सर नीचा नहीं कर सकता।" पर माता ने रो-रो कर ज़मीन-आसमान एक कर दिया। पिता के क्रोध और माता के क्रन्दन के सामने रामकिशोर की 'समाज-क्रान्ति' काफ़ूर की तरह उड़ गई।

* * *

सतीश ने रामकिशोर से कहा— "एक निर्दोष बालिका का जीवन नष्ट करते तुम्हे लज्जा नहीं आती ? पिता घर से निकालते हैं, तो घर छोड़ दो,— चाहे भीख ही माँगनी पड़े। कर्तव्य से विचलित न हो। तुम्हारा हृदय ऐसा ही भीरु था, तो क्या समझ कर, प्रेम की दुहाई देकर, सरोज को धोखे में डाला ?— मै यथाशक्ति तुम्हारी सहायता करने को तैयार हूँ।"

रामकिशोर के पिता को सहमत करने के लिए भाई साहब तथा अन्य सुधारकगण भी इस कार्य में शामिल हो गये। सरोज के पिता को भी यहाँ की स्थिति का समाचार भेज दिया गया।

रामकिशोर दूसरों का सहारा पाकर वीरता से कर्तव्य-युद्ध में अग्रसर हुए; पर पिता के सामने जाने का साहस न हुआ। जब तक कुछ परिणाम न निकले, उन्होंने हमारे ही घर रहने का निश्चय किया।

मै यह सोचती ही रही कि सरोज को क्या लिखूँ, इस बीच में उस का पत्र मिला। उसने लिखा था—

"प्यारी बहन माधवी,

मै जानती हूँ कि तुम मुझे पत्र क्यों न लिख सकीं। मुझ से कुछ छिपा नहीं है। उन के पिता ने मेरे पिता जी को पत्र लिखा है। उस में मेरे लिए 'कलंकिनी' और 'वेश्या' जैसे अपवित्र शब्दो तक का प्रयोग कर डाला है! लिखा है, मैंने उन के पुत्र को बिगाड़ दिया। मै अपराधिनी हूँ। लिखते हैं, 'मेरे लड़के का क्या बिगड़ा, वह तो पुरुष

है। उस के हज़ार ब्याह हो जायँगे, तुम्हारी लड़की अपने किये का फल भोगेगी!' बहन, लज्जा से मरी जा रही हूँ। आज स्वयं मुझे अपने से घृणा हो रही है। मैं अपनी दशा से तुम्हारा मिलान कर रही हूँ! तुम दोनों घर में रहते हुए भी— और यह जानते हुए कि घरवाले इस विवाह से सहमत हैं— मर्यादा का पालन करते रहे। और एक मै अभागिनी!

"मेरे पिता समाज-सुधारकों की श्रेणी में हैं। वे सदा यही बात कहा करते थे कि 'मै सरोज को विवाह के विषय में पूरी स्वतन्त्रता दूँगा।' पर आज वे ही मेरे इस गुप्त पत्र-व्यवहार का रहस्य जानकर अत्यन्त अप्रसन्न है। और माता जी का तो कहना ही क्या, बहुत ही क्रुद्ध और दुःखित हैं। मुझ से कहती हैं— मै तुझे ऐसी मूर्ख न समझती थी। हमारे कुल में कलंक लगाने में तूने कुछ न उठा रखा। अगर यह ब्याह न हुआ, तो बडी बदनामी होगी। वे कहती हैं— मैं मानती हूँ कि लड़के-लड़कियो को अपने विवाह में पूर्ण अधिकार है; पर यह विलायत नहीं, हिन्दुस्तान है। उन्हें दुःख है कि आजकल पश्चिमी सभ्यता में रँगकर हमारे देश के युवक-युवतियाँ समझने लगे हैं कि माता-पिता को उन के बीच में बोलने का कुछ अधिकार ही नहीं। उन्होंने यहाँ तक कहा कि आजकल के लडके-लडकियाँ यौवन की चंचलता को प्रेम समझ कर अपना सारा जीवन नष्ट कर डालते हैं। भगवान ही इनकी रक्षा करे।

"बहन, मैंने सिर नीचा करके सब-कुछ सुना। ठीक है। मैं पहले ही से उनको अपना विचार बता देती, तो मेरा यह प्रेम आज 'कलंक' तो न कहा जाता। पिताजी अवश्य ही कोई युक्ति निकाल कर कार्य को सुगमता से सिद्ध कर लेते; पर अब मारे ग्लानि के मेरा हृदय फटा जा रहा है। मन यह चाहता है कि जब वे मेरे प्रेम को ठुकरा कर समाज और सम्पत्ति के आगे कायर बन गये, तो मैं भी कायरता को अपना कर आत्म-हत्या कर लूँ। सुना है, तुम दोनों कोशिश कर रहे हो। जो चाहो, करो। अब विवाह मर्यादा के लिये करना है। अब वे खोये हुए सुखद स्वप्न, भूली हुई मधुर अभिलाषाएँ कहाँ मिलेंगी, बहन? मेरी जिस हँसी पर तुम मुग्ध थीं, मेरी वह हँसी शायद हमेशा के लिये खो गई; अब जीवन-भर ढूँढे न मिलेगी।

पत्र तो दोगी ही।

तुम्हारी अभागिनी—

सरोज।"

— ८ —

मेरा और सरोज का विवाह एक ही दिन— समाज के व्यर्थ रीति-रिवाजों को दूर कर— हो गया। सरोज की सरलता पर ईश्वर को भी करुणा आ गई, जो बिगड़कर भी यह कार्य बन गया। रामकिशोर के पिता को जब मालूम हुआ कि रामकिशोर उनकी आज्ञा

का उल्लंघन कर 'सिविल मैरिज' करने को तैयार है, तब उन्होंने न-जाने क्या समझकर, सम्मति दे दी।

माता जी बहू का मुँह देखकर सारा दुःख-सन्ताप भूल गईं। समाज की लीला ही विचित्र है। बड़े आदमी का कौन समाज से बहिष्कार करने का साहस करे?

विवाह हुए सप्ताह भी न बीत पाया था कि बनारस के लिए बिस्तर बाँधने पड़े। परीक्षा के दिन निकट आ रहे थे, छुट्टी में और ज़्यादा गुंजाइश न थी।

रामकिशोर तो स्टेशन से लौट गये; पर सतीश को तो इस वर्ष पुस्तकों से छुट्टी मिल गई थी, वे मेरे साथ बनारस तक पहुँचाने गये। सरोज खिड़की से बाहर मुँह किये, चुपके-चुपके वियोग के आँसू बहा रही थी। मैंने उसे छेड़ा—"बता अब तो रामकिशोर से रूठी नहीं है?"

उसने गर्दन हिलाकर संकेत किया—"नहीं।"

—"तू तो कहती थी कि जीवन-भर अब मुँह पर हँसी ही न आयेगी! अब तो खोई चीज़ मिल गई?"

वह खिलखिलाकर हँस पड़ी, मुझे भी हँसी आ गई।

मधुरिमा

स्वच्छ चाँदनी में बैठना, चकोर की भाँति चन्द्रमा का आवाहन करना, सम्पूर्ण रात्रि नीले आकाश की ओर देखते रहना, दिन-भर फूलो से भरे उद्यान में इधर से उधर विचरना, पुष्पों के सौन्दर्य को देख-देख कर हँसना और तितलियों से अठखेलियाँ करना— मधुरिमा को यही भाता है। इसके सिवा और सारे कार्य उसे बन्धन-स्वरूप प्रतीत होते हैं।

वह प्रातः उषाकाल से पहले उठकर उद्यान में चली जाती है, जहाँ उस समय समीर के हलके झोंके, पक्षियों के मधुर कलरव और कुसुमों के सौरभ के सिवा और कुछ जान ही नहीं पड़ता— चारों ओर हलकी जादू-भरी अँधियारी का राज्य होता है। मधुरिमा एक ओर निमग्न बैठी रहती है। शीतल समीर उसके शरीर को स्पन्दित

करता है, पक्षियों के कलरव की मीठी ध्वनि उसे आह्लादित करती है, पुष्पों की भीनी-भीनी सुगन्धि उसे रोमाचित करती है— मस्त बना देती है, उसका मन किसी अद्वितीय आनन्द से भर जाता है, और सूर्य की गुलाबी रश्मियो के स्पर्श से अन्य फूलो के साथ मधुरिमा भी खिल उठती है।

सुन्दर प्रभात के साथ किसी अनुपम आभा से उसका सौन्दर्य चमक उठता है, रात्रि के साथ ही उसके हृदय की सारी नीरवता विदा हो जाती है, कोई अद्भुत नाद उसकी अन्तरात्मा में कल्लोल करने लगता है, उसके अंग-अंग में चंचलता नाच उठती है। वह फूलो के साथ खिल उठती है, चिड़ियो के साथ चहचहा उठती है, उसके हृदय से भी भ्रमर-लोक का संगीत फूट निकलता है, और वह अपने सुरीले गले से कुछ गुनगुनाने लगती है।

उस समय यदि उद्यान में जाकर कोई देखे, तो उसे मधुरिमा एक खूबसूरत तितली ही की भाँति प्रतीत होती है। उद्यान के प्रत्येक वृक्ष, प्रत्येक पुष्प, प्रत्येक पल्लव से वह परिचित है। संध्या के मिलन के बाद जब तक वह अपने सारे पुष्पों से, सारी कलियो से, एक-एक डाली से भेंट नहीं कर लेती, उसके हृदय को सन्तोष नहीं होता।

वह भूलती नहीं कि आज किस डाली पर कितनी कलियों का जन्म होने वाला है, कितनी शैशवावस्था में प्रविष्ट होंगी, कितनी खिलकर यौवन के उत्तुङ्ग शिखर पर चढ़ेंगी और कितनी झड़कर

मृत्यु की गोद में पहुँच जायँगी। मधुरिमा हरएक से मिलती है, प्रत्येक से सहानुभूति प्रकट करती है। किसी से मौन भाषा में कुछ कह आती है, किसी पर एक तिरछी दृष्टि डाल आती है, किसी को अपनी सुकुमार उँगलियों से स्पर्श कर आती है और किसी की ओर से अपनी गर्दन हिलाती हुई निकल जाती है, मानो कहती है— 'अभी धैर्य रखो, अभी बहुत व्यस्त हूँ, फिर आऊँगी।' किसी ओर से आते समय वह 'बहुत काम है' यह भूल ही जाती है, और ठहरकर दोनों हाथों से वल्लरियो को पकड़ कर— अंक में भरकर— बार-बार फूलों को प्यार करती है। किसी के सौन्दर्य पर इतनी मुग्ध हो जाती है कि घटों निर्निमेष दृष्टि से खड़ी ताका करती है, और किसी के ऊपर कंकड़ी मार कर दूर ही खड़ी रहती है, मानो उससे चुहलबाज़ी कर रही है— उस का मन अपनी ओर आकर्षित करना चाहती है।

पृथिवी पर पड़े कुम्हलाये पुष्प को देख कर वह व्यग्र हो उठती है, तुरन्त ही उसे उठा कर छाती से लगा लेती है, आँखों से दो बूँद आँसू भी टपका देती है— उस की ओर निराशापूर्ण दृष्टि से घंटों देखती रहती है।

मधुरिमा का यही काम है, यही उसका परिवार है, यही उस का खेल है और यही उस का सुख।

— २ —

मधुरिमा अपने सम्पत्तिशाली माता-पिता की अकेली सन्तान है। संसार में आराम के जितने भी साधन हो सकते हैं, सब मौजूद हैं; पर

मधुरिमा को उद्यान में विचरने के सिवा दूसरा कोई काम नहीं सुहाता। माता-पिता उसकी इस विलक्षण प्रकृति से हैरान हैं। माता का हृदय इस आशंका से काँप उठता है कि वह अँधियारे ही बाग़ मे भाग जाती है— कहीं कोई कीड़ा-मकोड़ा न काट ले। वह लताओं के झुरमुट में घुस जाती है, यदि उस में साँप······

मधुरिमा के लिए माता के वात्सल्य में वह जादू न था, जो उद्यान-निरीक्षण में था। बढ़िया-बढ़िया चमत्कारपूर्ण खिलौनों में वह आकर्षण न था, जो फूलों में था। उसे खेल भी वही पसन्द हैं, जो बाग़ में हो। सखियाँ भी वही पसन्द हैं, जो उस के साथ उद्यान का भ्रमण कर सकें। मधुरिमा सखियों के गले में बाँह डाल कर इधर-उधर फुदकने-सी लगती है— "देखो, यह कली आज खिली है, और वह फूल कल खिला था। वह गुलाब अभी बच्चा है, अभी और बड़ा होगा। अरे! चलो, चलो, देखो तो, वह काला भौंरा उस खूबसूरत कली का रस पी रहा है, उसे मार कर भगा दूँ।"

सखियाँ इस प्रकार घूमते-घूमते थक जाती हैं; पर मधुरिमा नहीं थकती। कोई सखी कहती— "बहन, मेरे तो यहाँ फिरते-फिरते पैर दुखने लगे; चलो अब घर बैठ कर गुड़िया खेलें।"

मधुरिमा कहती— "न, न, अभी मुझे बहुत काम है, अपने बहुत-से फूलों को देखना है, उनकी खबरदारी करना है। तू जानती नहीं बहन, वह सामने वाला मन्दिर का पुजारी बड़ा खराब आदमी है। यहाँ से चली जाऊँगी, तो वह सारे फूल नोच-खसोट कर

अपने ठाकुर पर चढ़ा देगा। और माली, वह फूलो का काम तो करता है ; पर, यदि मै चली जाऊँ, तो अभी ढेर-से फूल तोड कर गुलदस्ता बना डाले ! इसीलिए तो मुझे फुरसत नहीं मिलती।"

मधुरिमा से जिसे बाते करनी हो, वह उद्यान में जाय, फिर तो वह बातो की झड़ी लगा देगी। माता-पिता को भी घंटों उसके कारण उद्यान में घूमना पड़ता है। घर आकर मधुरिमा को भोजन करना और कपडा पहनना भी बन्धन-सा मालूम होता है।

माता कहती— "बेटी, मै नौकरानी को बाग में भेजे देती हूँ। कोई फूल न तोड़ेगा। तेरे पिता जी ने सबको फूल तोड़ने की मनाही कर दी है। तू भर-पेट रोटी तो खा ले।"

मगर मधुरिमा को सन्तोष नहीं होता। वह खाना खाती है ; पर उसका ध्यान फुलवारी ही में लगा रहता है। किसी प्रकार माता से छूटते ही वह भाग खड़ी होती है। सदा से ही मधुरिमा का यही ढंग है। जब वह और भी छोटी थी, तब नौकरानियाँ गोद में लेकर फूलों से उसका परिचय कराते-कराते थक जाती थीं। माली को आज्ञा थी कि वह उसके साथ घूम-घूम कर सारे फूलों के नाम उसे बताता जाय। और मधुरिमा तोतली बोली में उन नामों को दोहराती जाती। नौकरानी थककर पेड की छाया में बैठ जाती — "बिटिया रानी, अब तनिक सो जाओ।"

मधुरिमा कहती—"अले हिलिया, तू मेले फूल को 'आ जा ली निंदिया,— आ जा ली निंदिया' कलके छुला आ ; मैं नहीं छोती।"

नौकरानी कहती—"अजीब लड़की है !"

— ३ —

पानी बरसे, या आँधी आये, चाहे जेठ-बैसाख की धूप शरीर को भून डाले, लू के थपेड़े यम के दूत बन कर आ जायें ; पर मधुरिमा से घर नहीं बैठा जाता। ज़बरन बिठाई जाती है। मूसलधार वर्षा में उसे बाग़ में कैसे घूमने दिया जाय ? हहराती लू में उसका शरीर कुम्हला न जायगा ?

मधुरिमा अब ऐसी नादान बच्ची तो नहीं है, जो इतना भी न समझ सके ; फिर भी नहीं समझ पाती। वह तो सोचती है— इन फूलों को तो लू नहीं लगती, फिर मुझे क्यों सतायेगी ? ये पानी में भीगकर कितने प्रसन्न जान पड़ते हैं ; यदि मै भी इसी प्रकार पानी में भीग सकूँ, तो कैसा आनन्द आवे ! और कभी-कभी सबकी आँख बचाकर, कभी माँ से नहाने का बहाना करके, वह झंझावात के झोंकों के साथ अठखेलियाँ करने चली जाती है। वह फूलों के सुख की थाह लेना चाहती है।

उस समय वह आनन्द से उन्मत्त-सी हो उठती है, उसकी आँखें हर्ष से चमकने लगती हैं, मन एक प्रकार के उत्साह से भर जाता है

और गुलाबी गाल मारे जोश के सुर्ख हो उठते हैं। वह फूलों से छेड़-छाड़ करती हुई चारों ओर हँसती फिरती है, मानो फूलों से कहती है— "आज मै भी पानी में भीग रही हूँ, हाँ! आज कमरे की खिड़की से तुम्हें देखकर ललचा थोड़े रही हूँ। आज़ाद हूँ— तुम्हारी ही तरह पूरी आज़ाद हूँ।"

मधुरिमा का यह ढंग अब घरवालों को सुखद प्रतीत नहीं होता। माता-पिता रात-दिन चिन्ता में रहते हैं— कैसे उसे राह पर लाया जाय? ऐसी लडकी तो उन्होंने आज तक न दूसरी देखी, न सुनी ही है। अब बड़ी हो रही है, उसे कुछ पढ़ना-लिखना चाहिए, कुछ सीखना चाहिये, इस तरह कब तक अल्हड बनी रहेगी?

किया भी क्या जाय, 'क, ख, ग' मधुरिमा को याद नहीं होता; पंडितजी की कर्कश आवाज़ और भद्दी शकल से उसे चिढ़ है। फूलों में निमग्न रहने वाली, भ्रमरों का राग सुनने वाली मधुरिमा हारमोनियम-वाले मास्टर का गाना पसन्द नहीं करती। सा, रे, ग, म न उसे अच्छा लगे, न याद हो। वह मास्टर से कहती है— "मास्टर साहब, मेरे तालाब में आजकल खूब कमल खिले हैं। काले-काले भौंरे उस पर बैठकर बड़ा सुरीला गाना गाते हैं। चलिये, आपको सुना लाऊँ। वैसा गाना क्या आप मुझे सिखा सकेंगे?"

मास्टर कहता है— "अच्छी ट्यूशन मिली!" करे भी क्या? बड़े घर की नौकरी है। लड़की के साथ भौंरे का राग सुनने जाना

फिर मधुरिमा के लिए हँसी रोकना कठिन हो जाता है, वह खिलखिलाकर हँस उठती है। हँसते-हँसते लोट जाती है, और यह कहकर आँधी की तरह भाग खड़ी होती है— "पंडित जी, मै उस गदहे वाली बात नही पढ़ूँगी। जाती हूँ अपने गेंदे के पास।"

पंडित जी क्रुद्ध होकर कहते हैं— "देख लिया आपने? आपकी लड़की को पढ़ाना असम्भव है। विलक्षण बिटिया है!"

पंडित जी सर खुजलाते चले जाते है। माँ माथे पर हाथ रखकर सोचती है— "क्या करूँ?"

— ४ —

फूल चाँदनी चुरा रहे थे। मधुरिमा सबकी तलाशी ले रही थी,— कौन फूल अब तक जाग रहा है। मलयानिल को उसी समय हँसी सूझी, वह कोमल कलियों को छेड़ने लगा। सुकुमारता के कारण कहीं किसी की कमर न टूट जाय, इसी चिन्ता में मधुरिमा कलियो पर दृष्टि गड़ाकर खड़ी हो गई। उसी समय उसके कान में अत्यन्त सुरीला राग सुनाई दिया। सब कुछ भूलकर वह उस राग में तन्मय हो गई।

कौन है यह? कैसा मनमोहक स्वर है उसकी बाँसुरी का! इस स्वर मे बाँसुरी तो पहले किसी ने न बजाई थी! इसमे तो कोयलों की कूक, चिड़ियों का मधुर कलरव, भ्रमरों का राग— सब-कुछ भरा है। मधुरिमा

फिर मधुरिमा के लिए हँसी रोकना कठिन हो जाता है, वह खिलखिलाकर हँस उठती है। हँसते-हँसते लोट जाती है, और यह कहकर आँधी की तरह भाग खड़ी होती है— "पंडित जी, मैं उस गदहे वाली बात नहीं पढ़ूँगी। जाती हूँ अपने गेंदे के पास।"

पंडित जी क्रुद्ध होकर कहते हैं— "देख लिया आपने? आपकी लड़की को पढ़ाना असम्भव है। विलक्षण बिटिया है!"

पंडित जी सर खुजलाते चले जाते हैं। माँ माथे पर हाथ रखकर सोचती है— "क्या करूँ?"

— ४ —

फूल चाँदनी चुरा रहे थे। मधुरिमा सबकी तलाशी ले रही थी,— कौन फूल अब तक जाग रहा है। मलयानिल को उसी समय हँसी सूझी, वह कोमल कलियों को छेड़ने लगा। सुकुमारता के कारण कहीं किसी की कमर न टूट जाय, इसी चिन्ता में मधुरिमा कलियों पर दृष्टि गड़ाकर खड़ी हो गई। उसी समय उसके कान में अत्यन्त सुरीला राग सुनाई दिया। सब कुछ भूलकर वह उस राग में तन्मय हो गई।

कौन है यह? कैसा मनमोहक स्वर है उसकी बाँसुरी का! इस स्वर में बाँसुरी तो पहले किसी ने न बजाई थी! इसमें तो कोयलों की कूक, चिड़ियों का मधुर कलरव, भ्रमरों का राग— सब-कुछ भरा है। मधुरिमा

उन्मत्त-सी हो उठी। बाँसुरी रुकते ही कुमार के पास पहुँच गई; बोली— "तुम बाँसुरी बजाते हो?"

—"हाँ!"

—"मुझे बतलाओगे, तुम क्या गाते हो?"

—"फूल-फूल मैंने हरि को देखा, और देखी मैंने फुलवारी।"

मधुरिमा सोचने लगी, — यह भी शायद फूलों को प्यार करता है, तभी तो फूलों का गाना गाता है। वह बोली— "क्या तुम मुझे गाना सिखा सकते हो?"

—"क्यों नहीं, ज़रूर सिखा सकता हूँ। मेरा गाना क्या तुम्हे पसन्द है?"

—"बहुत पसन्द है। चलो मै तुम्हें पिता जी के पास ले चलूँ। मै तुमसे गाना सीखूँगी।"

कैसी भोली बालिका; कितनी सुन्दर, कैसी प्यारी और कैसी सुकुमार! आँखों में कितना आकर्षण है! कुमार उसकी बात टाल न सका, बोला— "अच्छा, चलो।"

कुमार का हाथ पकड़े मधुरिमा पिता के पास पहुँची— "पिता जी, मै इनसे गाना सीखूँगी। उन मास्टर साहब को मना कर दो, अब न आवें।"

पिता ने आँखे ऊपर उठाई — यह तो उनका पड़ोसी नलिनीकुमार है। धनाढ्य का लड़का है। वह मधुरिमा को गाना कैसे सिखायेगा? वे बोले— "पगली, कुमार को इतनी फुरसत कहाँ है? पढ़ने-लिखने वाला लडका है।"

—"नहीं, मैं इसे अवश्य गाना सिखाया करूँगा। मुझे काम ही क्या है? मेरी कालेज की पढ़ाई इस वर्ष से समाप्त हो गई। पिता जी तो अब आपके पडोस ही में आ गये हैं न।"

—"बेटा, यह पढ़ेगी क्या, इसे तो दिन-भर बाग़ ही से फुरसत नहीं होती।"

—"जो भी हो, मै इसे पढ़ा दूँगा।"

मधुरिमा अधिक खडी न रह सकी, कुमार का हाथ पकडा और भाग खड़ी हुई। कुमार भी उसके साथ घसिटता चला गया।

— ५ —

जो मधुरिमा ग से गदहा न पढ़ पाती थी, वह अब गेंदे का ग, चम्पा का च बहुत पीछे छोड़ आई है। वह सुन्दर-सुन्दर कविताएँ लिख कर कुमार को दिखाती है। कुमार चकित हो जाता है— अल्हड़ मधुरिमा ऐसी भावपूर्ण कविता कैसे लिखती है?

और उस अल्हड़पन पर ही कुमार मुग्ध है। उसकी मास्टरी तो अब खत्म हो चुकी। मधुरिमा चाँदनी में बैठकर चन्द्रमा को एकटक

देखती और कुमार मधुरिमा को। वह मुग्ध दृष्टि से फूलों को ताका करती और कुमार उसको ; पर मधुरिमा को कुछ खबर ही न होती। जब उसकी यह समाधि टूटती, तो वह आँखों मे जाने क्या भरकर उन्मत्त-सी चिल्ला उठती— "कुमार, देखो, यह फूल कितना सुन्दर है !"

कुमार की दृढ़ता का बन्धन ढीला हो जाता, वह उसके दोनो हाथ मुट्ठी में दबाकर उसे कितनी देर तक बिना पलक मारे देखा करता ; पर फिर भी मधुरिमा फूलो के ध्यान ही में लीन रहती। धीरे-धीरे वह मुट्ठी के बन्धन ढीले कर देता।

कितने ही दिन इसी तरह गुजरते चले गये।

मधुरिमा अब यौवन मे पदार्पण कर चुकी है, पर उसे कुछ खबर ही नहीं। कुमार के हाथ पकड़ने और छोड़ने का अर्थ वह कुछ नहीं समझती। मधुरिमा की यह प्रकृति अब कुमार को भी अच्छी नहीं लगती। वह चाहता है— अब फूलो के सिवा कुछ और बात भी करे, और फूलों की बात छोड़कर मेरी ही बात सोचा करे, मेरे ही ध्यान मे मग्न रहे। पर वह देखता है कि उसकी बाते भी अब वह वैसे ध्यान से नहीं सुनती, क्योंकि अब वह बातें फूलों की कहानी नहीं है, उसकी कविताएँ अब फूलो की डाली नही हैं। और प्रेम की बातें, जिन्हें मधुरिमा को समझना चाहिए, सुन कर वह क़हक़हा

मार कर हँस देती है। बेचारा कुमार लज्जित होकर आँखे नीची कर लेता है।

एक दिन रिमझिम-रिमझिम पानी बरस रहा था। रात-भर घनघोर वर्षा हुई थी। सारा घर अभी मीठी नींद में मग्न था। अकेली मधुरिमा जाग कर उद्यान में पहुँच गई थी। डाली पर दृष्टि पड़ते ही उसका मन नाच उठा। इतना सुन्दर फूल तो आज तक उसने देखा ही नहीं, कैसा खूबसूरत है! देखते ही देखते समीर के एक झोके ने उसे पतली टहनी से अलग कर दिया। मधुरिमा ने दौड़ कर उठा लिया, और प्यार से उसे सहलाते हुए उसने सोचा— 'इसे कुमार को उपहार दूँगी।' हलके झोंके के साथ यह विचार मन में आया, और आँधी की भाँति मधुरिमा कुमार के घर भागी।

उस का स्वभाव ही विचित्र है।

कुमार शय्या पर पड़ा मधुरिमा ही की बात सोच रहा था, उसी समय दौड़ती हुई मधुरिमा पहुँची और हाँफती हुई बोली— "कुमार, ऐसा सुन्दर फूल आज तक नहीं खिला था। लो, तुम्हे उपहार देती हूँ।"

कुमार ने दोनों हाथ पकड़ कर उसे अपनी ओर खींच लिया— "मेरे इस फूल से यह सुन्दर नहीं है।"

मधुरिमा का मुँह फीका पड़ गया— सारा उत्साह समाप्त हो गया, और वह कुमार के बन्धन से छूटने की चेष्टा करने लगी। दीनता दिखाते हुए बोली— "यह तुमको हो क्या गया है?"

—"कुछ तो नहीं, तुम अपने फूल को प्यार करती हो, और मैं..."

—"पर मुझे यह अच्छा नहीं लगता।"

—"क्यों? क्या मैं तुम्हें अच्छा नहीं लगता?"

—"तुम तो बहुत अच्छे लगते हो।"

—"फिर दूर-दूर क्यों भागती हो, मेरी बातें क्यों नहीं सुनतीं।"

मधुरिमा क्या उत्तर दे? बेबस होकर कुमार के बन्धन में मुँह छुपाये खड़ी रही। वह किसी तरह भी यह नहीं समझ सकती कि कुमार अपने अच्छे न लगने का प्रश्न क्यों उठाता है। कुमार तो उसे सदा से ही बहुत प्यारा है, क्या वह जानता नहीं? फिर अब ऐसी बातें क्यों करता है? मधुरिमा कुछ अनुभव तो करती है कि कुमार उससे यही चाहता है; वही नहीं, माता-पिता सभी चाहते है कि कुमार से उसका ब्याह हो। विवाह भले ही हो ले; पर इस प्रकार का बन्धन मधुरिमा को असह्य है, उसका जी फड़फड़ाने लगता है। अन्दर ही अन्दर किसी आशंका से वह काँप उठती है।

— ६ —

मधुरिमा का कुमार के साथ ब्याह हो गया, और ब्याह के साथ ही बड़ा भारी परिवर्तन भी।

अब मधुरिमा हर समय चहचहाने वाली चिड़िया— मस्त होकर फुदकने वाली तितली नहीं रही। अब वह गंभीर हो गई है। कुमार

उसका दिल अपने क़ाबू में करके उसे अपनी चकोरी बनाना चाहता है, और फूल उसका दिल चुराकर उसे चमन की बुलबुल बनाया चाहते हैं। मधुरिमा दुविधा में पड़ गई है। वह न कुमार को प्रसन्न कर पाती है, न अब स्वयं प्रसन्न हो पाती है। वह अब नवयौवना युवती है, बच्ची नहीं। सभी उससे कुछ आशा रखते हैं। उसका यह दिन-रात पागल की भाँति फूलों के पीछे पड़ा रहना, किसी को नहीं भाता। कहाँ तक कोई उसे नादान बच्ची समझे?

परन्तु मधुरिमा कुछ और ही सोचती है— उसका जो एक इतिहास का इतिहास छिपा पड़ा है, उसे कैसे जाना जाय? नित्यप्रति उसके कान में कोई कह जाता है— 'बहुत-कुछ छिपा है, बहुत-कुछ जानना है।' पुष्प ही नहीं, कोई पुष्पलोक भी है; और पुष्पलोक ही नहीं, न-मालूम क्या-क्या है। है जरूर! मधुरिमा वह सब कुछ जानना चाहती है। उसे ऐसा प्रतीत होता है कि कोई संसार ही और छिपा पड़ा है। इन पुष्पों में कोई बड़ा रहस्य है, जिसे जानने को उसका मन घुट रहा है, उसका हृदय तड़प रहा है।

यह बात शायद कुमार भी नहीं जानता, तभी तो वह अब इस ओर से चुप है। उसके प्रश्नों का उत्तर अब कुमार के पास नहीं है, इसीलिए मधुरिमा अब कुमार से प्रश्नों की झड़ी नहीं लगाती। अपनी कल्पना-शक्ति द्वारा भी वह बहुत-कुछ जानने की चेष्टा करती है, इसीलिए तो अब वह बहुधा मौन रहती है, घंटों निःशब्द फूलों की ओर ताककर न-जाने क्या सोचा करती है।

डाक्टर पूछता है— "बुखार से तबीयत घबराती है ?"

मधुरिमा कहती है— "नहीं ।"

—"सर में दर्द रहता है ?"

—"नहीं ।"

—"कमज़ोरी मालूम होती है ?"

—"नहीं ।"

—"कुछ और तकलीफ है ?"

—"कुछ नहीं ।"

कुछ कष्ट न होने पर भी वह हँसती नहीं है । कुमार बड़ी आशा से कविता पढ़ने बैठता है कि इस बार तो मधुरिमा अवश्य हँस देगी ; किन्तु पूरी कविता समाप्त हो जाती है, मधुरिमा मौन रहती है । कुमार आँखें उठा कर देखता है । अरे, क्या वह व्यर्थ ही पढ़ रहा है ! मधुरिमा तो किसी और ही ध्यान में डूबी है ।

सब लोग हैरान हैं, क्या उपाय किया जाय ? उसे हो क्या गया है ? आखिर यह रोग क्या है ?

— ७ —

डाक्टर कहते हैं, उसकी हालत अब बहुत ही नाजुक है ; मगर इधर कुछ दिनों से मधुरिमा में फिर परिवर्तन हो रहा है । अब वह

डाक्टर पूछता है— "बुखार से तबीयत घबराती है?"

मधुरिमा कहती है— "नहीं।"

—"सर में दर्द रहता है?"

—"नहीं।"

—"कमज़ोरी मालूम होती है?"

—"नहीं।"

—"कुछ और तकलीफ़ है?"

—"कुछ नहीं।"

कुछ कष्ट न होने पर भी वह हँसती नहीं है। कुमार बड़ी आशा से कविता पढ़ने बैठता है कि इस बार तो मधुरिमा अवश्य हँस देगी; किन्तु पूरी कविता समाप्त हो जाती है, मधुरिमा मौन रहती है। कुमार आँखें उठा कर देखता है। अरे, क्या वह व्यर्थ ही पढ़ रहा है! मधुरिमा तो किसी और ही ध्यान में डूबी है।

सब लोग हैरान हैं, क्या उपाय किया जाय? उसे हो क्या गया है? आख़िर यह रोग क्या है?

— ७ —

डाक्टर कहते हैं, उसकी हालत अब बहुत ही नाज़ुक है; मगर इधर कुछ दिनों से मधुरिमा में फिर परिवर्तन हो रहा है। अब वह

कुछ प्रसन्न रहती है। डाक्टर भले ही न कहे, घरवाले तो समझते हैं—वह अच्छी हो रही है। देखो, उसके मुँह पर पहली-सी आभा फिर आ रही है। आँखें जो गड्ढे मे धुस गई थीं, उन में अब ज्योति मालूम होती है। गालों पर कुछ सुर्खी आ रही है। अब वह घंटों कुमार से हँस-हँस कर बातें करती है।

मधुरिमा वास्तव में अब प्रसन्न है। उसे ऐसा मालूम होता है कि वह अब सब-कुछ जानने ही वाली है; वह समय समीप है, जब उसके कान में कोई कुछ फूँक देगा। वह जान जायगी— मै काहे को तरसती हूँ,— यह उद्भ्रान्त लालसा, यह उत्कट वेदना किस लिए है।

जैसे-जैसे समय बीतता जाता है, उसका हृदय आनन्द के आवेग से उछला पड़ता है, उत्साह से भरा जाता है।

— ८ —

एक दिन, पूर्णिमा की रात्रि थी, मधुरिमा ने कहा— "मेरा पलंग चाँदनी में फूलों के पास बिछा दो; और कुमार, तुम एक अच्छी-सी कविता सुना दो। आज मैं बहुत अच्छी हूँ, शरीर मे बड़ी स्फूर्ति है। आँखे मीचकर लेटने को जी चाहता है।"

सब लोग शान्त हो गये; कुमार धीरे-धीरे कविता पढ़ने लगा; माता पंखा झलने लगी। मधुरिमा को नींद आ रही है। वह नींद में

कुछ बुदबुदाने लगी— "वह देखो, फूलों के गुच्छे मेरी ओर उड़े आ रहे हैं। पवन उन्हें उड़ाये ला रहा है।·वह चले ही आ रहे हैं।"

सब लोग स्तब्ध हो गये। मधुरिमा सो रही है, स्वप्न देख रही है।

—"कैसा सुखद समीर है··· मनमोहक सुरभि है · मनोहर संगीत है · मैं भी उड रही हूँ! फूलों के साथ चली जा रही हूँ— चली ही जा रही हूँ।"

मधुरिमा शान्त हो गई। उसका बुदबुदाना बन्द हो गया। अब उसका मस्तिष्क शान्त है। वह मीठी नींद सो रही है।

उसी समय डाक्टर ने आकर नाड़ी देखी— "सेठ जी, कितनी देर से ..."

—"क्या? क्या हुआ? मेरी मधुरिमा सो रही है न?"

कुमार के हाथ से कविता छूट पड़ी— "हाय! मेरा फूल किधर उड़ गया?"

माँ कहती है— "मेरी बच्ची को क्या हुआ?"

पिता कहता है— "मेरी मधुरिमा तो अच्छी हो रही थी!"

भिखमंगे की बिटिया

"काहे परबत्ता बहिनी, तुम पहिल पहिल चोरी कब किये रह्यो ?"—हंसते हुए सतीश बाबू ने परबतिया से पूछा।

"भैया, पहिल-पहिल चोरी हम किया रहा बाबा के बाग माँ।"—धीरे-धीरे सतीश का माथा दबाते हुए परबतिया ने उत्तर दिया।

—"तो बहिनी, बताओ तो तुम कसस चोरी किये रह्यो।"

—"भैया, जिन बाबा के बाग माँ हम रहित रहिन, उइ आँखी मूँद के जब ध्यान लगावै लागै, तब हम उनकी मड़ैया माँ घुस जाई, और धीरे-धीरे ई तरह कि तनकौ खटका न होय पावै, हँड़ियन के ढकना खोली, अँजुरी-भर दाल, अँजुरी-भर चाँउर अपने कोछा माँ डार के निहुरे-निहुरे बिरवा की आड़ी माँ छिपत भइन भई झट्ट-से अपनी मड़ैया

ग्यारह वर्ष की उमर से परब्रतिया इस संसार में अकेली है। भाई नहीं, बहन नहीं, माँ दूध-पीती छोड़कर सिधार गई! अन्धा पिता था, वह भी पिछली साल परब्रतिया को अकेली छोड़कर चल बसा। तभी से परब्रतिया ज़मींदार के परिवार ही मे रहती है।

जब भोला अहीर मरा, तो गाँव वालों की पंचायत यह निश्चय करने बैठी कि परबतिया का क्या हो? किसी जानने वाले ने बताया कि उसके एक मौसी है, जो 'शिवपुरा' से पन्द्रह कोस पर रहती है। परबतिया को वहीं पहुँचा दिया जाय। सभी को यह उचित जान पड़ा, यहाँ तक कि बाबा सालिगराम ने भी सम्मतिसूचक गर्दन हिला दी। गाँव-भर में परबतिया के एकमात्र शुभचिन्तक वे ही थे। जिस दिन से भोला की आँखें जाती रहीं, उन्हीं ने तो छोटी परबतिया को बर्तन माँजने को रख लिया था। बर्तन माँजने के वेतन में परब्रतिया को खाना और पिता-पुत्री के रहने के लिए अपने आम की बगिया में एक फूस की झोंपड़ी दे रखी थी।

बाबाजी जब तीर्थ-तात्रा को जाने लगे, तो उन्होंने परब्रतिया को कहीं ठिकाने से लगा देना ही उचित समझा। उसे मौसी के घर तक पहुँचाने में जो किराया लगता, वह भी बाबा देने को तैयार थे; मगर परब्रतिया तो मौसी के घर जाने को राज़ी ही नहीं है! वह कहती है—'मुझे लखनऊ सरकार के घर पहुँचा दो।' परब्रतिया से तो उन्होंने कुछ नहीं कहा; पर मन में यह ठान ली कि कभी कोई गाड़ी उधर आती-जाती मिल जाय, तो धोखे से उसे मौसी के घर

पहुँचा दिया जाय। आखिर लड़की ही तो ठहरी, जाते डरती है।

चतुर परबतिया न-जाने कैसे गाँववालों का विचार भाँप गई। उस दिन से फिर वह गाँववालों को दिखाई ही न दी। हाँ, चौथे दिन रगू पासी ने सूचना दी कि जब वह कंडों की गाड़ी लेकर ज़मींदार के घर पहुँचा, तो कंडे उतारते समय उसने परबतिया को भी उतारा, और जमींदार के पुत्र सतीश भैया की दया से परबतिया ने ज़मींदार-परिवार में स्थान भी पा लिया है। सभी ने सतीश भैया की प्रशंसा की, और चालाक परबतिया के साहस को दोष दिया। बालेपन से ही यह चतुराई? इसीलिए तो भगवान ने उसे अनाथ कर दिया है। जन्म लेते ही मा को खा गई।

कोई चाहे कुछ कहे, परबतिया का मनोरथ तो पूरा हो ही गया। परबतिया ने अपने गाँव से आने की कथा सतीश को इस प्रकार सुनाई थी—"भैया, जब हम जाना कि बाबा हमका मौसी के घरै भेजत हैं, तो हम गाँव से बाहर एक टूट खँडहर रहै, ओही माँ दिन-भर छिपाई रही। रात माँ जब अँधियार हुइ जाय, तो तलाये जाई, पानी पीई और बगिया से आम तोड़ के खाई। रोजै रंगू कै द्वारे देख लेई; सोची, कब गाड़ी जाय, तो हम लखनऊ जाई। एक दिना गाड़ी कंडन से लदी ठाढ़ रहै, हमहूँ छिपाय के बैइठ गइन। रंगू अँधियारे गाड़ी हाँक दिहिस, एहि मारे जानै नाही पावा कि कौनो अउरौ बैइठ है।"

सतीश ने पूछा—"परबत्ता बहिनी, तुम मौसी के घर न जाकर यहाँ क्यों खुशी से चली आई?"

परबतिया ने कहा— "भैया, हियन तो हमारा जोर है। हमरे दादा सरकार का पोत जो देत रहैं ? खलिहानै माँ नाज बेच के, हमका कनिया लैकै, पहिले हियन सरकार का पोत देय दौड़े आवत रहैं। घर माँ चाहे खाय का रहै, चाहै न रहै।"

गरीब परबतिया क्या जाने कि पोत लेना ज़मींदार का जन्मसिद्ध अधिकार है— किसान खाय, चाहे भूखों मरे। सभी किसान भूखे रहते हैं और जमींदार बेगार-सहित पूरा लगान वसूल करते हैं। केवल सतीश ही को नहीं, परबतिया यह बात घरवालों के सिवा बाहरवालों को भी जोर-जोर से सुना देती— "हम काहू के आसरे नाहिन हैं। हमरे दादा चमचमात भये रुपिया सरकार का दै जात रहैं।"

कोई कहता भी, तुम्हारे दादा हमारी ज़मीन भी तो जोतते थे। क्या मुफ्त रुपया दे जाते थे ? घर के छोटे लड़के तो दिन में दस बार यही बात दोहराते ; मगर परबतिया के विचारों में कोई अन्तर न आता। वह समझती, सब मुझे चिढ़ा रहे हैं। अगर इन लोगों ही की बात ठीक होती, तो उसका सतीश भैया, जिसे वह सुनती है कि घर-भर से अधिक पढ़ा-लिखा है, परबतिया को यह बात क्यों नहीं बताता ? वह तो सदा यही कहता है— "परबत्ता-बहिनी, तुम्हरे दादा बहुत रुपया हमरे घर पहुँचाय चुके हैं। ओही रुपियन की गिन्नी बनी सन्दूक़ माँ धरी हैं।" और सच ही धरी है। एक दिन मालिकिन ने सन्दूक खोला, तो परबत्ता ने देखकर सतीश से कहा था— "भैया, मालिकिन के पास सोने के पैसे हैं।"

सतीश ने कहा— "पैसा नहीं, गिन्नियाँ हैं।"

परबतिया सोचती— दादा सरकार को न देकर अपने पास रुपया जोड़ते, तो इतनी ही गिन्नियाँ होतीं। दादा को बुढ़ापे में भीख काहे को माँगनी पड़ती; मगर नहीं, दादा यहाँ न रख जाते, तो परबतिया यहाँ आती कैसे, और फिर सतीश-जैसे प्यार करने वाले भैया कहाँ से मिलते?

उसके सतीश भैया ने कहा है कि चोरी करना बुरी बात है, इसलिए अब परबतिया चोरी न करेगी। जो चीज़ खाने की इच्छा होगी, माँग लेगी, या अपने हाथ से ले लेगी, उसका घर है। परबतिया पश्चात्ताप करती— क्यों न उसने पहले ही बाबा के बाग वाली चोरी की बात सतीश भैया को सुना दी? जो सतीश उसे पहले ही से सावधान कर देते, तो वह इस घर में लड्डू चुराकर क्यों बदनाम होती? अब तो सभी जानते हैं कि परबतिया चोर है; पर इससे क्या? अब वह सबको प्रत्यक्ष रूप से दिखा देगी कि वह चोरी नहीं करती। पहले तो उसे मालूम न था कि चोरी करना बुरे आदमियों का काम है। परबतिया बुरी नहीं है। वह बुरी होती, तो उसे सतीश क्यों प्यार करता और परबतिया न कहकर 'परबत्ता बहिनी' क्यों कहता? क्यों उसके साथ उसकी ही भाषा में बात करता? सतीश जो कहेगा, परबतिया वही करेगी। उसके लिए वही सच है, और सब झूठ। उसकी बात न मानकर वह भैया का निरादर न करेगी। भले ही उसे सुधा, मालती, यहाँ तक कि छोटा मुन्नू भी 'बगुला भक्तिन' या 'नौ सौ चूहे खाय बिलैया…' कहकर चिढ़ा ले। वह सुन

लेगी और दावे के साथ सबसे कहेगी— "देख लिहौ, जो हम अब कबहूँ चोरी करी।"

— ३ —

मालिकिन जब ठाकुर जी का भोग लगाकर आरती उतार रही थीं, उसी समय भंडार-घर से भंडारिन का कर्कश स्वर ठीक वैसे ही कान के परदों को पार करता दिमाग में जा घुसा, जैसे हार्न देती हुई मोटर बँगले में घुस जाती है। ठाकुर जी की भोग-आरती सब व्यर्थ हो गई। वरदान माँगते समय ध्यान भंग हो गया, पूजा आधी ही रह गई।

झल्लाई हुई मालिकिन भँडारे में पहुँचीं। सुना, भंडारिन कह रही थी— "वाह रे! वाह रे मिजाज! घी की हँड़िया-की-हँड़िया दाल माँ उलट लिहिन। जब आई रहै, तो तन पर लत्तौ न रहा। सतीश भैया की लाखन बरस की उमिर हो, जो दया करके रख लिहिन, और ई सर पै चढ़ी आवत है। हम पंचनका रहत बरसै बीत गई, मुदा अस साहस नाहीं, जो बिना पूछे, तिनका भी तोड़ सकी, और कल की आई परबतिया का अस जिगरा? राम-राम! हर चीज पर हाथ डाल दे! हमार अब काहे को गुजर होई। भंडारिन तौ परबतिया न बन जाई।"

और समय होता, तो मालिकिन परबतिया का अपराध क्षमा कर देतीं; पर इस समय तो उसके ही कारण पूजा भंग हो गई। तब भला मालिकिन कैसे बरदाश्त कर सकती थीं। तड़ातड़ चार-पाँच तमाचे परबतिया के गाल पर जमा दिये।

परबतिया के जीवन में यह पहला अवसर था कि किसी ने उसके ऊपर हाथ उठाया। आत्म-सम्मान की मूर्ति परबतिया की अन्तर्वेदना भभक उठी। सामने से थाली सरका कर, एक कोने में बैठ, वह फूट-फूटकर रोने लगी। शायद इतना दुःख उसे पिता की मृत्यु पर भी न हुआ था, जितना आत्म-सम्मान मे धक्का पहुँचने से आज हुआ। यह उसका रोना मानो पुकार-पुकार कर कह रहा था— 'यह बालकों-जैसा रोना नही है।'

यह दृश्य देखकर रसोई में बैठी हुई मिसरानी का मन भर आया। वह इतना कहे बिना न रह सकी— "मालिकिन, खाते समय तो कुत्ते को भी नहीं मारते। बच्चा है।"

मालिकिन भी अपने क्रोध पर क्रुद्ध हो रही थीं, और भंडारिन सोच रही थी कि व्यर्थ तनिक-सी बात का बतंगड़ किया। बेचारी गरीब लडकी है। मेरे आगे भी तो बाल-बच्चे हैं। थोड़ा-सा घी ले ही लिया, तो उसमें मेरे बाप का क्या बिगडता था? इतने नौकर-चाकर हैं— सभी तो खाते-पीते हैं। यही न कि उसे मुझसे माँगना चाहिए था— मैं भंडारिन हूँ।

दिन-भर बीत गया। घर-भर खा-पी चुका; पर परबतिया रोटी लेने न आई, तब मिसरानी ने पुकार मचाई। घर-भर ढूँढ डाला; पर परबतिया न मिली। स्वयं मालिकिन ने भी इधर-उधर उठकर खोजा; पर वह दिखाई ही न दी। यह कौन जानता था कि परबतिया शरम के मारे कूड़े-कबाड़े की कोठरी में मुँह छिपाये पडी है।

परबतिया जब तक रो सकी, रोई— खूब रोई। जब मन-भर रो चुकी, तो उठी, और सबसे ऊपर वाली कोठरी में जाकर लेट गई— जैसे बहुत दूर का थका राहगीर पेड़ ही के नीचे लेटकर सन्तोष करता है। और वह करती भी क्या? उसका कौन है, जिससे वह अपनी व्यथा कहे। उसे तो अपना मुँह दिखाना भी अत्यन्त हेय जान पड़ता है। सब कहेंगे— 'तनिक-से घी के लिए कैसी पिटी!' हाय, आज उसका सतीश भैया भी तो नहीं है। गाँव गया है। वह होता, तो परबतिया पूछती— भैया, मेरा क्या कसूर है? तुम्हीं ने तो कहा था— और मालिकिन के सामने कहा था— 'परबत्ता, तुम्हारा घर है, जो चाहे, खाओ; चोरी न करना।' फिर बिना अपराध उसे इतनी लाछना क्यों सहनी पड़ी? पेट ही के कारण तो यह अपमान है। उसी के लिए वह चोरी करती थी। उसे याद है कि चोरी करते समय उसका हृदय कैसा धक-धक करता था। कितना डर लगता था! कहीं बाबा के मुँदे नेत्र खुल न जायँ, जो बरस पड़े। सुक्खू ने बाबा के आम तोड़ लिये थे, तो बाबा ने उसे अधमरा कर दिया था। गाँव-भर तमाशा देखने जुड़ गया था। यह सब जानकर भी धड़कते हृदय से परबतिया चोरी करती थी। केवल इसी लिए तो कि कोई 'भिखमंगे की बिटिया' न कहे। जाड़े से ठिठुरते हुए बाबा के बर्तन माँजने जाती। चौका देती, तो हाथ ठिठुर जाते, किन्तु फिर भी जाती। सब-कुछ इसी लिए करती कि वह भिखमंगे की बिटिया कहाना नहीं सुन सकती। बाबा अगर उसके दादा को भी बर्तन माँजने के बदले में खिला देते, तो उसे चोरी करने की ज़रूरत ही न होती।

— ४ —

सारा घर सो गया। चारों तरफ रात और सन्नाटे का अधिकार था। परबतिया को मारे भूख के नींद न आ रही थी। निद्रा और क्षुधा देवियों में द्वन्द्व-सा हो रहा था। निद्रादेवी कहती— 'तुम्हारी शक्ति मेरे सामने कुछ नहीं, मै तो परबतिया की आँखो पर अपना कब्ज़ा करके ही मानूँगी।' क्षुधादेवी हँसकर जवाब देती— 'देखना है, आज किसकी विजय होती है? संसार मे कौन शक्ति ऐसी है, जो मुझसे बलशाली हो!' अन्त में क्षुधादेवी ही की विजय हुई। एकान्त पाकर क्षुधादेवी ने अपने खूब हाथ-पैर फैला लिये।

क्षुधा के प्रचड प्रकोप के साथ ही शुद्ध वायु न मिलने से परबतिया का दम घुटने लगा। उसने कोठरी से बाहर निकलकर नीचे झाँका। देखा, चारों ओर सन्नाटा है। वह धीरे-धीरे नीचे उतर आई, और हाथ-मुँह धोकर पानी से पेट की ज्वाला शान्त की। फिर चटाई बिछा कर निद्रादेवी को मनाने लगी। पर वे इतनी जल्दी कैसे आतीं। भूख कहने लगी— 'मिसरानी ने ज़रूर ही रसोई में परबतिया के हिस्से के परांठे ढककर रख दिये होंगे। साथ ही भंडारिन भी काफी साग, सब्ज़ी, रायता आदि रखना न भूली होगी, क्योंकि वह जानती है कि परबतिया सतीश भैया से चुगली करे बिना न रहेगी।' मगर क्षुधादेवी के सारे प्रलोभन व्यर्थ हुए। आखिर क्षुधा को परबतिया के आत्माभिमान के सामने लज्जित होना पडा। फिर भी वह भागी नहीं, बराबर ढिठाई के साथ तीरन्दाज़ी करती रही।

रात तो परबतिया ने चुपके-से बिता दी ; पर अब क्या करे ? दिन निकलते ही तो उसे सब-कोई देख लेंगे। यह न होगा, उसमें आज इतना साहस कहाँ है ? सब यही कहेंगे,— रात जहाँ जाकर मर गई थी, वहीं जा। फिर उसे थाली परसाने भंडार-घर में जाना होगा, जहाँ खाते समय पिटी थी। नहीं, नहीं, यह उससे न सहा जायगा। फिर क्या उपाय करे ? सतीश भैया के कमरे मे ताला बन्द है। न भैया है, न भौजी। परबतिया उस कमरे में बड़ी मेज के नीचे लेटकर लज्जा को ठुकरा सकती थी। उस कमरे मे तो उसका अधिकार है। जब लड्डू चुराने पर मालिकिन ने फटकारा था, तब भी वह दिन-भर वहीं तो पड़ी रही थी। उसकी भौजी सुखदा ने अपने हाथ से एक थाली सतीश की मेज़ पर रखी थी, और एक छोटी थाली उसके आँसू पोंछते हुये उसके सामने जमीन पर। भैया के बाद कोई उससे स्नेह करता है, तो वह उसकी भौजी ही है। और सतीश भैया का तो कहना ही क्या ! उन्होंने उस दिन कहा था— "परबत्ता बहिनी, पहले तुम खावौ, नाहीं तो हमहूँ न खाब।" मानो सारा दुलार उस समय परबतिया पर न्यौछावर हो गया।

"खावौ भैया, हमहूँ खाब।"— यह कह कर उसने रोज़ से दूना खाया, और उसकी सारी ग्लानि जाने कहाँ भाग गई ! वैसे ही उठकर वह खेलने चली गई ; पर आज कोई उपाय न देखकर वह घर से बाहर निकली और एक ओर चल दी।

— ५ —

परबतिया धीरे-धीरे बेसुध-सी एक ओर चली जा रही थी। उसका हृदय धड़-धड़ धड़क रहा था। यह बात न थी कि वह लखनऊ

की राहों से अनभिज्ञ हो, या डर रही हो। नहीं, वह तो मंडी, चौक, अमीनाबाद की खाक छान चुकी थी; पर आज जाय कहाँ? पहला समय होता, तो परबतिया मंडी जाती, आम चुरा कर खाती और गोमती के किनारे घाट पर सोकर दो-चार दिन सतीश भैया के आने की प्रतीक्षा में यों ही काट देती; पर चोरी तो अब वह हरगिज़ नहीं कर सकती, चाहे भूख से मर भले ही जाय।

फिर,— कहीं नौकरी करने जाय? पर डर लगता है, सतीश भैया गुस्सा जो होंगे। पर यहाँ तक वह चली कैसे आई? सतीश भैया ने तो कहीं अकेले घूमने-फिरने को मना कर दिया था। अब सड़क पर खेलने भी तो जाने नहीं देते— बाग़ में भले ही खेल ले। और आज? आज तो वह घर से इतनी दूर चली आई है। भैया जब सुनेंगे, तो ज़रूर गुस्सा होंगे। बेचारी परबतिया अधीर होकर रोने को ही थी कि इतने में उसने देखा— सामने से मोटर पर सतीश भैया आ रहे हैं। विचारों ने पलटा खाया। न-जाने हृदय में कैसे भाव उठे, मस्तिष्क में किन विचारों ने चक्कर मारा, और वह बड़े ज़ोर से चिल्लाई— "भैया!" और धड़ाम-से मोटर के सामने जा गिरी।

सतीश ने बड़ी चतुराई से मोटर रोकने की कोशिश की। जब मोटर रुकी, तो उसने देखा कि उसकी परबत्ता बहिनी का सारा शरीर खून से तरबतर है। वह घर न जाकर बेहोश परबतिया को लेकर सीधा अस्पताल पहुँचा। किसी धनी की कन्या की चिकित्सा के लिए जो कुछ भी हो सकता है, सतीश ने इस भिखमंगे की बिटिया के लिये

सब-कुछ किया। अस्पताल के सिविल सर्जन ने बहुत ही सावधानी से उसकी महरम-पट्टी की, और सतीश को विश्वास दिलाया कि जान बच जायगी। चोट ज़रूर बहुत गहरी लगी है ; पर ज़्यादा खतरनाक नहीं है।

सतीश ने भी डाक्टरों की सम्मति सुनकर सन्तोष की साँस ली, और सब काम छोड़ कर परबतिया की सेवा-सुश्रूषा में लगा रहा। सध्या समय परबतिया को होश आया। सतीश का हृदय प्रसन्नता से प्रफुल्लित हो उठा। उसने पूछा— "परबत्ता बहिनी, अब जी कस है ?"

परबतिया ने बोलने की कोशिश की ; पर बोल न सकी। हाँ, आँखों से दो बूँद आँसू टपक पड़े। सतीश ने अपने रूमाल से आँसू पोंछते हुए कहा— "बहिनी, घबराओ ना, जल्दी अच्छी हुइ जइहौ।" थोड़ी देर बाद फिर परबतिया ने आँख खोलकर देखा। इस बार रोई नहीं, मुसकराई। डाक्टर ने नब्ज़ देखते हुए कहा— "अब बहुत अच्छी है, आप चाहें तो घर ले जा सकते हैं।"

सतीश ने प्रसन्न होते हुए पूछा— "काहे परबत्ता बहिनी, तुमका घर लै चली ?"

परबत्ता ने हाथ से संकेत करके कहा— "नहीं।"

सतीश भी रात-भर घर न जाकर परबतिया के सिरहाने बैठा रहा, और परबतिया सोती रही। दूसरे दिन सवेरे वह बहुत अच्छी दीख पड़ी। सतीश के हाथ से दूध पीकर बोली— "भैया, तुमहूँ रोटी खाय आवौ।"

—"हाँ बहिनी, खाब, यह तो बतावौ, घर चलिहौ ?"

—"नाहीं भैया, साँझै पहर चलब, अबहीं जाबा न जाई ।"

—"अच्छा, साँझै का चल्यो, अबै सोय रहौ ।"

परबतिया सो गई । सतीश नहाने-खाने घर चला गया । दोपहर में जागकर सतीश के लाख मना करने पर भी परबतिया ने शुरू से अन्त तक अपनी सारी रामकहानी सुना डाली । अन्त में फिर उसी प्रकार चिल्लाकर रो उठी— "भैया !" और थककर आँखे मूँद लीं । सतीश उसके सर-पर हाथ फेरते-फेरते सान्त्वना देने लगा । चिल्लाने का शब्द सुनकर डाक्टर भी दौड़ आया और नाड़ी देखकर बोला— "अफसोस ! बाबू साहब, अचानक 'शॉक' पहुँचने से 'हार्ट फेल' हो गया !"

सतीश चिल्ला उठा— "हाय परबत्ता बहिनी !"

अपने आत्म-गौरव को समेटे हुए परबतिया उस घर में न जाकर दूसरे ही घर चली गई ! शायद उस घर का मालिक उसके आत्माभिमान का आदर कर सके !

पागल

"बाबूजी, दाता तुम्हारा भला करे, वैद्यजी के कानों तक मेरी पुकार पहुँचा दो। मै घंटे-भर से एक-एक की खुशामद कर रहा हूँ, कोई मुझ ग़रीब पर रहम नहीं करता। बाबूजी, तुम ही दया करो। मेरे लडके को हैज़ा हो गया है! रात से तडप रहा है। यह वक्त हुआ, अब तक दवा-दारू नसीब नहीं हुई।"— रो कर लक्ष्मण भंगी ने एक बाबू साहब से कहा।

"हट अलग, चिपटा क्यो जाता है? सुबह-ही-सुबह नहलायेगा क्या? वैद्यजी तेरी पहले तो ज़रूर सुनेगे न! आखिर हम लोग कचहरी-दफ्तरवाले भी तो खड़े हैं।"— इस प्रकार डपटकर, त्योरियों पर बल डाले, बाबू साहब दवाखाने के अन्दर चले गये। बेचारा लक्ष्मण पुत्र के इलाज के लिए रोता-कलपता खड़ा रहा। जो व्यक्ति दवा

लेने आता, लक्ष्मण उसी के कदमों की बलाएँ लेता, हाथ जोड़ कर गिड़गिड़ाता, उसके कल्याण के लिए सैकड़ो असीसें देता ; पर किसी के हृदय में उसके प्रति इतनी दया न आई कि वैद्यजी तक उस दीन की फरियाद पहुँचा देता। कोई बहुत कृपा करता, तो दो-चार शब्दों से उसे सान्त्वना दे देता ; और जिन धर्मात्मा महापुरुषों को अपनी मान-मर्यादा का ध्यान था, वे भला किस प्रकार खड़े होकर अछूत की एक बात भी सुन सकते ! साराश यह कि सब ही अपना-अपना मतलब साधने में व्यग्र थे। 'किस तरह वैद्यजी पहले मुझे देखकर दवा दे दें'— ऐसी ही युक्तियाँ सोच रहे थे। फिर उस बेकस भंगी की फ़रियाद सुनने में कौन अपना अमूल्य समय नष्ट करता ?

क़रीब डेढ़ घंटे तक लक्ष्मण इसी प्रकार दवाख़ाने के दरवाज़े पर एक कोने में खड़ा रहा। आज उसे अपनी दशा का स्मरण कर हज़ार बिच्छुओं के डंक मारने-जैसी पीड़ा का अनुभव हो रहा था। मनुष्यों की भाँति उसे भी प्रकृति ने सब शक्ति प्रदान की हैं ; पर सब व्यर्थ ! एक अछूत के लिये शारीरिक शक्ति और मानसिक बल का होना, न-होना समान है। उसका रूप मनुष्य का-सा भले ही हो, पर उसकी दशा एक पशु से भी बदतर है। वह इतना निस्सहाय है, ऐसा निर्बल है, कि कड़ी मेहनत से पैसा कमा कर भी उसका उचित रूप से उपयोग नही कर सकता ! धर्म के दरबार में एक अछूत को यह अधिकार कहाँ है कि वह छूत जाति के वैद्य के द्वारा अपनी सन्तान की प्राण-रक्षा का भी कुछ उपाय कर सके ?

वैद्य जी के दवाखाने से जो रोगी दवा की शीशी हाथ में लेकर निकलते, लक्ष्मण उन्हें हसरत-भरी निगाह से देखता। आज उसे शीशी में दवा नहीं, अमृत नज़र आ रहा था। वह नित्य ही झाड़ू लगाते समय यह दृश्य देखता था ; परन्तु आज तक कभी उसने यह अनुभव नहीं किया था कि शीशी के अन्दर का रँगदार पानी उसके लिए एक दुर्लभ वस्तु है, और न आज की भाँति और किसी दिन उसकी आँखें उस वस्तु के प्राप्त करने वाले को ही इतना भाग्यशाली मानने को तैयार होती थीं। मगर आज संसार की सारी न्यामतें इस शीशी के सामने उसे फीकी जान पड़ती थीं। इस समय वह अपने प्राण तक न्योछावर करके दवा की शीशी खरीदने को तैयार था। इसी चीज़ में तो वह शक्ति भरी है, जिसके सेवन से उसके प्यारे पुत्र मनुआ के प्राण बच सकते हैं— यह उसकी धारणा थी।

जिस चीज़ को दूसरे लोग कुछ पैसे खर्च कर इतनी सुगमता से प्राप्त कर लेते हैं, लक्ष्मण सुबह से तपस्या करके भी उसे न पा सका ! मालूम नहीं, कब तक वह इसी भाँति अपनी उद्देश्य-पूर्ति के लिए दवाखाने के दरवाजे पर आँखें बिछाये खड़ा रहता ; पर सहसा अपने बाप की आवाज़ कानों में पड़ते ही वह चौंक पड़ा— "अरे लक्ष्मण, आखिरी वक्त मनुआ का मुँह देखना हो, तो घर चलकर देख ले।"

लक्ष्मण के शरीर में किसी ने मानो बिजली का तार छुआ दिया हो। दवा पाने की आशा में वह ऐसा लीन था कि उसे यह सुध ही न

थी कि घर पर बच्चे का क्या हाल होगा। पिता की आवाज़ सुनते ही बेसुध हो घर की ओर दौड़ा।

— २ —

"बप्पा, दवा लाये?"— अन्तिम शब्द बच्चे के मुँह से निकले।

सुबह से मनुआ ने आँख भी न खोली थीं, बेहोश पड़ा था। अब होश आया और बोला भी। यह देखकर सबके मन में आशा का संचार हुआ, शायद बच जाय! पर क्षण ही भर में मृत्यु के लक्षण प्रकट होने लगे। मनुआ जीने के लिए होश में न आया था, बल्कि सदा को बेहोश होने के लिए। उसके वे अन्तिम शब्द लक्ष्मण के हृदय में तीर की तरह लगे।

"जैसे भी हो, बेटा, तेरे लिए दवाई लाता हूँ।"— यह कहकर लक्ष्मण पागल की भाँति भागा। लोग चिल्लाते-पुकारते रह गये— "अरे, अब मत जा, किसके लिए दवा लायगा? थोड़ी देर और पास बैठ ले, लौट आ।"

लक्ष्मण के कानों ने शायद दूसरो का चिल्लाना-पुकारना सुना ही नहीं। उसके पैर हवा से बाते कर रहे थे उसका उछलता हुआ हृदय 'दवा-दवा' चिल्ला रहा था। पलक मारते वह वैद्य जी के दवाखाने में घुस गया, और वैद्य जी के पैरों पर गिरकर कलपने लगा— "वैद्य जी, वैद्य जी, अभी मनुआ में प्राण बाकी हैं, तुम दवा देकर उसे बचा लो। मै जन्म-भर तुम्हारा गुलाम बना रहूँगा। जो कुछ कहोगे,

जान बेचकर चुकाऊँगा। इस वक्त मनुआ को मारना-जिलाना तुम्हारे हाथ है। मेरे भगवान तुम हो, ग़रीब पर दया करो।"

भंगी के अन्दर घुस आने से बड़ा शोर-गुल मच गया, मानो कोई जानवर सब को हड़पने के लिए दौड़ आया हो। सभी लोग अपवित्र होनें के डर से दूर भागने लगे। वैद्य जी का तो कहना ही क्या था? उन्हें तो पैर छूकर उसने अपवित्र ही कर दिया था! गुस्से से लाल होकर बोले— "अरे चाण्डाल, किसकी आज्ञा से तू अन्दर घुस आया? ऊपर से अमीरी-बघारता है, 'जो माँगोगे, वह दूँगा'। अन्धा हो गया है क्या? यह सैकड़ो रुपयों की दवाएँ और यह सारा सामान जो छूत हो गया, इसकी कीमत क्या तू चुका सकता है?"

—"महाराज, कसूर हुआ, मुझे घबराहट में ध्यान न रहा। हजूर, मेरे सौ जूते लगवा ले, जिस तरह होगा, ताबेदारी में कसर न करूँगा। आप माई-बाप हें; मगर जल्दी से दवा दे दें, देर करने से आपका मनुआ सदा के लिए चल बसेगा। महाराज, जल्दी करो, ग़रीब से क़सूर हुआ, माफ करो।"— काँपते हुए लक्ष्मण ने कहा।

—"क्या तुझे कभी दवा मिली न थी? बाहर न बैठकर अन्दर कैसे घुस आया?"— उसी प्रकार क्रोध से काँपते हुए वैद्य जी ने कहा।

—"हजूर, मै बड़ो फाटक पर खड़ा रहा। आप कमपोडर साहब से पूछ ले। मै सबेरे से एक-एक की मिन्नत-खुशामद कर रहा हूँ। मनुआ को रात से हैजा हुआ है. 'बिलकुल स्याह पड़ गया है। सरकार, गुस्सा

फिर हो लेना, दवा दे दो। हा-हा खाता हूँ। तुम्हारी दवा से मनुआ के प्राण बच जायँगे, यह मेरा मन कहता है।"

यह कहकर लक्ष्मण जोर से रो उठा। उसके हृदय में वे शब्द गूँज रहे थे "बप्पा, दवाई लाये?" रात-भर बच्चे को वह यह कहकर दिलासा देता रहा था— "भैया, सूरज निकलते ही तेरे लिए दवा लाऊँगा, सवेरे ही तू अच्छा हो जायगा।"

इस समय लक्ष्मण की दशा देखकर पत्थर भी पसीज उठता, वैद्य जी तो आखिर मनुष्य थे। सारा रोष दबा कर नुस्खा लिखने लगे। इसी समय फिर बाहर से लक्ष्मण के बूढे बाप के रोने का शब्द सुनाई पड़ा— "लक्ष्मण, अब किसके लिए दवाई लेगा? मनुआ तो विदा हो चुका?"

लक्ष्मण बाहर को भागा। वैद्य जी के हाथ से कलम गिर पडी।

– २ –

दो-एक दिन नहीं, मनुआ को मरे आज पन्द्रह दिन बीत गये। लक्ष्मण का बूढ़ा बाप और उसकी स्त्री रो पीटकर अपने-अपने काम में लग गये। संसार की गति ही ऐसी है। कौन किसे याद करे? कौन किसके लिये कहाँ तक रोये? ईश्वर अपने नियमानुसार सब को सब्र देता है; पर लक्ष्मण का रोना और लोगों से कुछ निराले ढंग का था। जिस घड़ी से वह मनुआ का अन्तिम संस्कार करके लौटा, वैद्य जी

के दरवाजे पर कोने में खड़ा रहता, उसी प्रकार आने-जानेवालों की मिन्नतें करता और यही वाक्य दोहराता— "बाबूजी, दाता तुम्हारा भला करे। वैद्य जी तक मेरी पुकार पहुँचा दो। मेरे मनुआ को हैज़ा हो गया है।"

लोग कहते थे कि वह पुत्र के शोक से पागल हो गया है। अगर वह पागल था, तो उसका पागलपन भी विचित्र था। मुँह पर तनिक भी उन्माद के लक्षण प्रकट न होते थे; पर करुणा टपकी पड़ती थी। कोई दुरदुराये, चाहे धमकाये, माथे पर शिकन न आती थी। वही दीनता का भाव दिखाते हुए हाथ जोड़कर, वेदनायुक्त स्वर में, सबके सामने गिड़गिड़ाता। सड़क के लड़के 'पागल-पागल' कहकर उसे चिढ़ाते, ईंट-पत्थर मारते, तब भी वह शान्ति और करुणा की मूर्ति बना स्थिर खड़ा रहता, और बार-बार यही कहता— "वैद्य जी तक मेरी फरियाद पहुँचा दो।"

वैद्य जी इसके पागलपन से अत्यन्त चिन्तित थे। वह दवाखाने में सुबह से शाम तक पड़ा रहता। मरीजों से यह करुणाजनक दृश्य देखा न जाता, इसलिये वह आते डरते थे। जो आते भी, वे और हाल पीछे कहते, वैद्य जी से यह शिकायत पहले करते— "वैद्य जी, किसी तरह इस पागल को यहाँ से हटाने का उपाय कीजिये। यहाँ तक आना कठिन हो जाता है। देखते ही पैरों पर गिरने दौड़ता है। यह जानते हुए भी कि पागल है, उसका रोना देखा नहीं जाता। सुबह यहाँ

आने से दिन-भर चित्त खराब रहता है। आँखों के सामने यही दृश्य घूमा करता है।"

वैद्य जी स्वय न-मालूम क्यों उसकी दृष्टि से बचते थे। चोर की नाई दूसरे द्वार से दवाखाने के अन्दर चले जाते, और उसकी नजर बचाकर, धड़कते हृदय से, घर लौट जाते। सोते-जागते लक्ष्मण ही की करुण मूर्ति सामने रहती। खाने बैठते, खाया न जाता; सोने जाते, नींद न आती;—रात-भर बिस्तरे पर करवट बदला करते। किसी काम में मन न लगता। रह-रहकर यही ध्यान आता—"उस दिन सुनकर मैने अनसुनी कर दी। मारना-जिलाना तो ईश्वर के अधीन है; पर उस रोज यदि मै और रोगियो को छोड़कर पहले इस दीन की सुन लेता, तो मरने वाला तो मरता ही; पर यह पागल न होता, और होता भी, तो वह उन्माद इस ढंग का न होता। कम-से-कम मै इस कलंक से तो बच जाता। अब तो जिसे देखो, मुझे ही धिक्कारता है, और दूसरे क्यों, स्वयं मेरी आत्मा ही मुझे धिक्कारती है। दूसरी चिन्ता अपनी प्रैक्टिस की थी। दवाखाने का स्थान भी बदलने का साहस न होता था। लोग और भी खिल्ली उड़ायेंगे। यदि मरीजो के दिल में पागल का ऐसा ही भय कुछ दिनो और रहा, तो खाऊँगा क्या? इन चिन्ताओं ने उन्हे बहुत परेशान कर दिया। लक्ष्मण के पिता को बुला कर दवा दी कि उसे खिलाओ और कहीं बाहर ले जाओ; राहखर्च मै दूँगा। सम्भव है, आबहवा बदलने से इसका दिमाग़ ठीक हो जाय।

मगर सारी कोशिशें व्यर्थ हुईं। किसी में वह शक्ति न थी, जो क्षण-भर के लिए भी लक्ष्मण को द्वार के सामने से हटा सकता। दिन की धूप, रात की ओस सर पर बीत जाती। मुँह में न अन्न का दाना जाता, न पानी की बूँद। रात में मौन धारण किये चुप खड़ा रहता। ज्यों ही सड़क पर लोगों का आना-जाना शुरू होता, त्यों ही उसका वह राग भी शुरू हो जाता, और रात में जब तक राहगीरों का आना-जाना बन्द न होता, वह अपना राग अलापता रहता। दिन-पर-दिन उसका चिल्लाना बढ़ता जाता था। उसकी चिल्लाहट में जो वेदना की ज्वालाएँ निकलतीं, अब वे सही न जातीं। लोगों ने वैद्य जी को सलाह दी, इसे पागलखाने भिजवा दो। लक्ष्मण के पिता ने भी रोते हुए अपनी राय दे दी—"शायद वहीं कुछ सुधर जाय।" पर वैद्य जी को साहस न हुआ। यदि कोई कहता, पुलिस की सहायता से इसे शीघ्र भिजवा दीजिये तो कह देते— "हाँ, देखो, प्रबन्ध कर रहा हूँ।"

एक दिन बहुत तड़के वैद्य जी के पास तकलीफ से कलपता हुआ एक रोगी आया। वैद्य जी स्वयं चाबी लेकर दवाखाना खोलने गये। मार्ग में सोचते जाते— "कहीं पागल देख न ले।" दूर ही से उन्होंने द्वार के कोने में टार्च से रोशनी डाली। आज कोना खाली था। उनकी जान में जान आई; शायद पागल आज कहीं दूसरी जगह चला गया, वरना इस जगह से हटता कब था। टार्च जेब में डालकर द्वार खोलने आगे बढ़े, तो किसी ठंडी वस्तु से पैर ठुकरा गया। फिर टार्च से रोशनी की। "अरे, पागल!"— वैद्य जी के मुँह से धीमी-सी चीख निकल

गई। सारा शरीर काँप उठा। फिर तुरन्त ही अपने को सम्हाल कर लक्ष्मण को देखने लगे।

शायद लक्ष्मण की तपस्या आज पूर्ण हो चुकी थी। उसका सारा शरीर बर्फ-सा ठंडा पड़ा था। आँखे पथरा गई थीं। हल्की-हल्की साँस चल रही थी। वैद्य जी के समझने को कुछ बाक़ी न रहा। माघ मास के भीषण जाड़े की रातों की ओस सहते-सहते आज शरीर की अग्नि जवाब दे गई है। कैसा करुणाजनक दृश्य था! वैद्य जी ने बहुत कठिन रोगों से पीड़ितों का अन्त देखा था; पर आज इस प्रकार सर्दी से ठिठुरकर, उनके द्वार, पर उन्हीं की प्रतीक्षा में प्राण विसर्जन करना देखकर वे अपने को सम्हाल न सके। लक्ष्मण को गोद में उठाकर एक बेंच पर लिटा दिया, और उसकी चिकित्सा करने लगे।

दिन निकलते ही लोगों ने देखा कि वैद्यजी आँखे मूँदे अचेतन-से चुप बैठे हैं। मृत लक्ष्मण का सिर उनकी गोद में है। क्या यह उसी लक्ष्मण का शरीर था, जिसके डर से वैद्यजी चोरों की भाँति इस दवाख़ाने में आते-जाते थे?

श्रमी की अभिलाषा

मस्ता को अपनी टोली के अन्य आदमियों की तरह ताडी, शराब और हुडक-जोडी की ज़रूरत नही थी। बाल सँवारने को तेल और आँखों के लिए सुरमा भी उसे नहीं चाहिए। चिट्टी कमीज़ पर काले अलपके की वासकट पहनने का उसे शौक नहीं है। न गाल में सुगन्धित तम्बाकूदार गिलौरी दाबकर छैला बने घूमना ही उसे पसन्द है। वह नहीं चाहता कि उसे कोई मस्ता वहार न कहकर मस्तराम कहे। जुआ, सुलही, ताश आदि से वह कोसों दूर भागता है। हाँ, तम्बाकू वह पीता था, जो अधिकतर उसके मित्र ही पिला देते थे; मगर इस भय से कि कोई पिलायेगा तो पीनी पड़ेगी, उसने वह भी छोड़ दी। अब मस्ता का हुक्के से कोई सम्बन्ध नहीं है।

उसे न कीर्ति की इच्छा है, न विश्राम की आवश्यकता; फिर भी वह संसार की चाहनाओं से विरक्त योगी नहीं है। चाहना है, और बड़ी प्रबल! उसी अभिलाषा के लिए तो यह भारी त्याग है, उसी इच्छा-पूर्ति के लिए तो वह दिन-रात कठिन परिश्रम करने को तैयार रहता है। वह क्या करे, किस प्रकार उसकी साध पूरी हो— इसी चिन्ता में तो हर समय डूबा रहता है। सोते-जागते हर समय वही ध्यान रहता है, एक ही लगन लगी है। आठो पहर अपनी अभिलाषा पूर्ण करने का साधन ढूँढता है, आराध्य देवी को प्रसन्न करना चाहता है।

सोने जाता है— आँखो पर नींद का परदा पड़ जाता है; परन्तु मस्तिष्क कुछ सोचा करता है। खाने बैठता है, पर जान नहीं पाता— क्या खाता है; मन कहीं और ही लगा रहता है। शारीरिक शक्ति परिश्रम करती है, दिमागी ताकत कामना-सिद्धि के उपायों को ढूँढा करती है।

मस्ता रात में सोता है, तो स्वप्न देखता है— कल्लू, मुल्लू आदि उसके समाज के मुख्य व्यक्ति उससे कर्ज लेने आये हैं। मस्ता १०) देकर १२) लेने की बात ठहरा रहा है। बसन्त चौधरी की लड़की का ब्याह है, बसन्त कर्ज लेने आया है। हाँ, मौका तो अच्छा है, इस बार मस्ता करारा सूद लिये बिना न रहेगा। लड़की सयानी हो गई है, इसी लगन में ब्याह की बात पक्की है, गरज़मन्द बसन्त कितना ही सूद देना पड़े, रुपया लेगा ही।

मस्ता अब रुपयेवाला है, आवश्यकता पड़ने पर बड़े आदमी भी उससे लेन-देन की बात करते हैं। वह ठीक अपने पड़ोसी सेठ मदनलाल की सानी का बन गया है ; पर आँख खुलने पर स्वप्न स्वप्न ही रह जाता है, रुपयो की थैलियों की जगह कमर मे कुछ ताँबे के टुकड़े ही रह जाते है। कोई ऐसा उपाय निकल आये, जो मस्ता का स्वप्न पूरा हो जाय। बस, यही तो उसकी आकाक्षा है।

* * *

एक मछली मारनेवाला कहार धन कैसे पैदा करे ? शक्ति-भर कुछ उठा नही रखता— प्रातः सूर्य निकलने से पहले उठ कर स्त्री के साथ काम पर चला जाता है। सिघाडे तोड कर मोहनियाँ को बेचने के लिए देता है, और स्वयं मछली मारने बैठ जाता है। संध्या को हारा-थका मछली बेंचकर लौटता है, तो बची-खुची मछली मोहनियाँ से पकवाकर भट्टी पर बेचने चला जाता है।

वह बारह बजे रात में लौटता है, और रूखी-सूखी रोटी खाकर पेट भर लेता है। यदि कभी मोहनियाँ चमचा-भर शोरवा बचा कर उसकी थाली में परोस दे— "रोज़-रोज रूखी रोटी खाते हो, आज मैंने ज़रा-सा शोरवा बचा लिया है।"— तो मस्ता स्त्री की इस खातिर से प्रसन्न नही होता, बल्कि उसे बीसों गालियाँ सुनाता है। रात-भर सोचता रहता है— यह शोरवा भी बेचने ले जाता तो एक पैसा और मिलता ! इतने पर भी वह सेठ जी की तरह धन संचय नही कर पाता। सिघाडे की फसल सदा नहीं रहती, और न सदैव उसके जाल मे बड़ी-बड़ी मछलियाँ ही फँसती है।

— २ —

आज मस्ता भट्टी पर गया, तो उसने कुछ निराला ही दृश्य देखा—

एक नटिन कहीं से आई है, शराबी लोग उसके नाच पर लट्टू हैं। जो इधर कभी नहीं आते थे, आज वे भी मौजूद हैं ; पतंगों की भाँति उसके नाच पर मँडरा रहे हैं। रुपया, अठन्नी, चवन्नियों की तो मानो उस पर वर्षा हो रही है।

मस्ता सोचने लगा— "कितनी जल्दी इस औरत ने इतना पैसा इकट्ठा कर लिया ! और मोहनियाँ ? मोहनियाँ दिन-भर सिंघाड़े बेच कर भी आटे-दाल तक को पैसा नहीं जुटा पाती। केवल परिश्रम ही से काम नहीं बनता, कुछ युक्ति भी तो होनी चाहिए।

मस्ता के मस्तिष्क में नवीन योजना ने प्रवेश किया। साधन मिल गया, धारणा बदल गई, प्रसन्नता से उसका चेहरा खिल उठा— वह भी कैसा बुद्धिमान है ! क्या ही युक्ति सोची है। बस, अब काहे की चिन्ता, मस्ता बहुत जल्द ही रुपयेवाला बन जायगा।

उसका मन अब मछली बेचने में नहीं लग रहा था। वह अपने सोचे हुए उपाय को जल्द-से-जल्द कार्य रूप में परिणत करने की बात सोच रहा था। आज तो उससे लक्ष्मी प्रसन्न हो गई है, अब देर क्यों करे ? मुँह पर प्रसन्नता नाच उठी, मन उत्साह से भर गया। बिना सारी मछली बेंचे ही वह अपनी विचार-लहरी में लहराता हुआ चल दिया।

आनन्द के मद में मस्त मस्ता सीधे बाज़ार पहुँचा, और बिना मोल-तोल किये ही मोहनियाँ के लिए सौगातें ख़रीदने लगा। मिस्सी की पुड़िया, सुरमा, काठ की सुरमादानी, जस्ते की एक सलाई, लाल लाख की पीली-पीली पोतें जड़ी-हुई तरकियों का एक जोड़ा और लाल रंग की छापेदार चुनरी। साथ ही 'मटरुआ' के लिए एक रंग-बिरंगी जापानी बनियाइन और पैसे की जलेबी।

जीवन में पहला अवसर था, जो मस्ता के हृदय ने फय्याज़ी का परिचय दिया। एकबारगी आज इतना खर्च करके भी उसका हृदय विचलित नहीं हुआ। कुछ चीजों के पैसे चुका दिये, कुछ दूकानदार की मिन्नत-खुशामद करके उधार लीं।

मस्ता का मित्र गंगा कुप्पी में तेल डलवाने आया था, मस्ता की इस खरीदारी पर चकित होकर उसका मुँह निहारने लगा। साथ ही व्यंग करने से भी नहीं चूका— "आज भौजी के बडे भाग हैं! कहीं राह में कुछ पंडा तो नहीं पा गये?"

मस्ता मुस्करा दिया, मानो कहता हो— मस्ता मूर्ख नहीं है; यह पैसे खर्च कर वह न-जाने कितने पैसे कमायेगा। यह पैसे व्यर्थ थोड़े ही जायँगे। यह तो लक्ष्मी का चन्दन-रोली की भाँति पुजावा है।

मोहनियाँ देख कर चकित हो गई! आज उसके कौन पुण्य प्रभाव जाग्रत हुए हैं, जो पति प्रसन्न हैं। इतने बरस बीत गये; जब वह गौनयाही आई थी, तब भी तो कभी एक पैसे का सेंदुर तक लाना

मस्ता को मयस्सर न हुआ था ; आज एक साथ इतना सामान ! आधी से ज़्यादा मछली लौटाल लाये हैं। कभी मैं एक चमचा भी बचा लेती हूँ, तो आफ़त कर देते हैं। आज मटरुआ का भी कम लाड़ नहीं है।

वह बेचारी क्या जाने, यह प्रेमोपहार देकर उससे क्या आशा की जाती है। सिंगार की वस्तुओं में अंगार छुपे हैं। इस सुहाग से सत्यानाश की सम्भावना है।

– ३ –

सुरमे-मिस्सी से सुसज्जित होकर मोहनियाँ ने शीशे में मुँह देखा, चुनरी कैसी खिल रही थी ! वह स्वयं ही अपने पर मोहित हो गई। जीवन में पहली बार तो उसके रूप को प्रकट होने का अवसर मिला है— साधन जुटा है। वह सोचने लगी— "चलूँ, सुन्दरिया को दिखा आऊँ।"

मस्ता भी एकटक मोहनियाँ को देख रहा था ! प्रेम से नहीं ; किसी गुप्त अभिसन्धि से— उसके द्वारा जिस सीमा तक सफलता की सम्भावना है। नटिन से मोहनियाँ की तुलना करके वह मुस्करा दिया। मोहनियाँ भी जीवन के अन्तिम सुख की हँसी हँसी, और एक प्रेमपूर्ण दृष्टि डालती हुई बोली— "ज़रा सुन्दरिया के पास जाती हूँ।"

मस्ता हाथ पकड़कर बोला— "चले जाना, एक बात तो सुन।"

मोहनियाँ प्रेम में सराबोर होकर पति की गोद में गिर पड़ी।

धीरे-धीरे मस्ता ने अपनी सारी चतुराई खर्च कर दी। अनेक प्रलोभन देकर अपना विचार कह दिया।

मोहनियाँ के शरीर में मानो किसी ने बिजली का तार छुआ दिया हो। वह चौंककर दूर खड़ी हो गई।. उसे स्वप्न में भी ऐसी आशंका न थी कि स्वयं उसका पति ही उसे कुमार्ग पर चलने को बाध्य करेगा। वह तो कभी देवर-नन्दोइयों से भी हँसते देख लेता, तो मारता था। रुपये के लिए मस्ता क्या कर सकता है,— मोहनियाँ ने आज जाना।

वह काँपती हुई बोली—"मुझे यह बनाव-सिंगार न चाहिए। मैं तो इन चीथड़ों ही में मगन हूँ। मैंने तो कभी तुमसे इन चीज़ों के लिए हठ नहीं की। तुम क्यों लाये ? ऐसी बात करते तुम्हें शर्म नहीं आती ? क्या मैं कोई पतुरिया हूँ ? अब ऐसी बात सोचना भी नहीं। ग़रीब है तो क्या, जाति-बिरादरी में अपना मान तो है·; मैं तो भट्टी पर कभी कदम भी न रखूँगी।"

वह फूट-फूट कर रो उठी।

मस्ता अपनी भूल समझ गया,— एकाएक पूरा आशय न कहना चाहिए था। वह मुस्करा कर बोला—"अरी पगली ! तू सच· समझ गई ? मैं तो हँसी कर रहा था। हाँ, मछली बेचने कल से तुझे ही जाना पड़ेगा। मैंने एक दूकान पर रात की नौकरी कर ली है। मुझे भाई-बिरादरी की, चिन्ता नहीं है, अपने पास चार पैसे जुड़ जायँगे.

तो सभी अपना आदर करेंगे, और न होगा तो किसी और शहर में चलकर आनन्द से रहेंगे। सड़क पर बैठकर सिघाड़े बेचे, तो मछली बेचने में कौन ऐब है?"

—"टोले-मोहल्ले की बात दूसरी है, मजाल है किसी की, जो कोई आधी बात भी कह जाय। भट्टी पर तो शराबी-जुआरी इकट्ठे होते हैं, वहाँ भली औरत का जाना ठीक नहीं है। मेरी बात न मानो, तो चार पंचों से पूछ लो। बसन्त दादा सुनकर, देखना कैसी डाँट बताते हैं।"

सुगमता से कार्य सिद्ध होते न देखकर मस्ता ने डंडा सँभाला और मोहनियाँ को मारते-मारते अधमरा कर दिया।

— ४ —

अब बेचारी मोहनियाँ पर नित्य ही डंडे बरसने लगे। दुखिया क्या करे? पति की बात मानती है, तो स्त्री की सब से प्यारी सम्पत्ति— सबसे क़ीमती चीज़— आबरू जाती है; नहीं मानती है, तो डंडों की मार पड़ती है। अबला ठहरी, क्या करे? किसकी शरण में जाय? मार से दुखिया के शरीर पर नीली-नीली बरतें पड़ गई हैं, हड्डी-हड्डी में दर्द है, और रुपये के लोभी मस्ता को उस पर ज़रा भी दया नहीं है।

वह पहले बिरादरीवालों से रोई गिड़गिड़ाई, जब कोई फल न हुआ, तो सीधे सेठ जी के घर पहुँची। सेठानी ग़लीचे पर बैठी पान बना रही

थीं। मोहनियाँ पैरों पर गिर पड़ी और रो-रो कर अपना सारा दुखड़ा सुनाने लगी— "सेठानी जी, मेरी आबरू तुम्हारे हाथ है, मुझे अपनी सेवा में रख लो, तो सारी विपदा दूर हो जाय।"

सेठानी जी का हृदय मोहनियाँ की करुण-कथा सुनकर पिघल गया। वे हिन्दू-समाज की पुरुष नहीं, स्त्री थीं। स्त्री के सतीत्व का मूल्य उनकी आँखों में क्यों न होता? मोहनियाँ की रक्षा के लिए उनका व्यग्र हो उठना स्वाभाविक था; परन्तु पराधीन सेठानी जी पति से सिफारिश करने के सिवा और कर ही क्या सकती थीं?

यों सेठजी चाहे इस काम में हाथ न डालते; मगर एक युवती और सुन्दर स्त्री से बात करने का लोभ न छोड़ सके। सेठानी जी से सुन ही चुके थे— "बड़ी खूबसूरत है।"

'बड़ी खूबसूरत है'— ने उनके पापी हृदय में उथल-पुथल मचा दी थी। सीधे आँगन में आकर बोले— "अच्छा, यह मस्ता की औरत है!— क्यों री, वह तुझे मारता है? कहे तो उसे अभी बुला कर ठीक कर दूँ। बदमाश को औरत पर हाथ उठाते शर्म नहीं आती!"

मोहनियाँ ने ज़मीन पर माथा टेकते हुए कहा— "नहीं मालिक, उन्हें कुछ न कहें, चार पंच मुझे ही दोष देंगे कि इसने अपने आदमी की इज्जत उतरवा ली। आप माई-बाप हैं, मुझ पर दया करके सेठानी जी की गुलामी में रख लो। चार पैसे कमाने लगूँगी, तो फिर वे मुझे भट्टी पर जाने को मजबूर न करेंगे। मालिक, उनका भी क्या क़सूर है, पेट सब-कुछ करवा लेता है।"

सेठ जी ने अत्यन्त दया दिखाते हुए सेठानी जी को मोहनियाँ को रख लेने की अनुमति दे दी। और मोहनियाँ को सान्त्वना देते हुए बोले—
"अब रोती क्यों है ? कल से काम पर आ जाना। देख, तेरे कपड़े बड़े गन्दे हैं, सेठानी जी से साफ धोती लेकर इन्हें बदल डालना।"

मोहनियाँ ने कृतज्ञता प्रकट करने को आँखें ऊपर उठाईं; पर सहम कर जल्दी से नीची कर लीं। सेठ जी के नेत्र उसे पवित्र न जान पड़े— वह इस प्रकार उसकी ओर घूरते क्यों हैं ? वह डर गई, शरीर में कँपकँपी-सी आ गई और साथ ही पति की मार की भी याद आ गई। वह दोबारा काँप उठी। एक बार मन में आया, कह दे— मैं नौकरी पर नहीं आऊँगी; परन्तु इतना साहस कैसे करती ? किस आधार पर आत्माभिमान को सुरक्षित रखती ? भट्टी पर जाने से बचने का एकमात्र सहारा वह कैसे छोड़ देती ?

सोचने लगी— कुछ भी हो, आखिर भले आदमी का घर है, लोक-लाज का विचार तो करेंगे ही। फिर सेठानी जी मेरी रक्षा करने को मौजूद हैं। दूसरा उपाय ही क्या था ? बेचारी अबला और क्या करती ? आँसू पोंछती घर चली आई, और बड़े घर में नौकरी पा जाने की खुशखबरी पतिदेव को सुना कर पिटने से बच गई।

— ५ —

मोहनियाँ को जानते देर न लगी— इस हिन्दू-समाज के वातावरण में पले हुए पुरुष स्त्रियों के सतीत्व की कैसी रक्षा करना जानते

हैं ! नीच जाति का गरीब मस्ता ही नहीं, उच्च जाति के सम्पतिशाली, सभ्य समाज के सेठ जी भी मस्ता से कम नहीं हैं। उनकी आँखें भी स्त्री की इज्जत का मूल्य उतना ही आँकती हैं, जितनी मस्ता की। स्त्रियाँ अपनी जिस निधि को संसार की सारी वस्तुओं से बढ़कर मानती है, जिसकी रक्षा के लिए अपने प्राणों तक की आहुति दे देती हैं, संसार की सारी न्यामतों को ठुकरा देती हैं, रोती हैं, जीवन-भर जलती हैं, दाने-दाने को मोहताज रहती हैं ; पर अपने सतीत्व पर किसी प्रकार की आँच आने नहीं देतीं, उसी सतीत्व की, माँ-बहनों के उस गौरव की, वह क्या क़ीमत समझते हैं ? उसकी रक्षा के लिए उनका क्या कर्त्तव्य है ? स्त्रियों की उस पवित्रता को नष्ट करना ! अपनी अपवित्र काम-पिपासा से, तृषित नेत्रों से घूर-घूर अपनी आँखों का जहरीला रङ्ग उन पर चढ़ाना ! उन्हें अपनी इच्छाओं का गुलाम बनाना ! विलास की सामग्री समझना, अपनी ख्वाहिशों के लिए उनकी बलि चढ़ाना और उन्हें भयंकर धधकती आग की भट्टी में झोंक देना !

सब जान कर भी मोहनियाँ सेठानी जी के भरोसे कुछ दिन काम करती रही। उसे सेठानी जी से बहुत आशा थी,— स्त्री तो स्त्री के दुःख को जानती है। वह तो उस दुःख का अनुमान कर सकती है ; फिर सेठानी जी को मोहनियाँ से सहानुभूति क्यों न होगी ? अवश्य होगी। वे जरूर मोहनियाँ की रक्षा करेंगी।

भोली मोहनियाँ क्या जाने— उसी की भाँति सेठानी जी भी तो पति के अधीन हैं। जिस प्रकार अपने छोटे घर में मोहनियाँ पराधीन है, इस बड़े घर मे सेठानी जी भी क़ैद हैं। दोनों की एक ही स्थिति है— कुछ भी अन्तर नहीं। मोहनियाँ फिर भी कुछ आज़ाद है— अपना दुखड़ा तो सेठानी जी तक रो आई! उन्हें इतनी भी आज़ादी नही है कि इच्छा होने पर वे मोहनियाँ के पास जाकर रो भी सके। जो बेचारी अपनी ही रक्षा नहीं कर सकती, वह मोहनियाँ की रक्षा क्या करेगी?

अब मोहनियाँ ने देख लिया कि उसका पति पैसे के लिए उस पर अत्याचार करता है, और सेठ जी? वे मस्ता से भी चार कदम आगे हैं,— अय्याशी के लिए अपनी पैशाचिक वृत्ति को तृप्त करने के लिए, अपनी गृहलक्ष्मी पर अत्याचार करते हैं, उससे सहायता चाहते हैं, अपने पाप का भागी उसे भी बनाना चाहते हैं!

— ६ —

दुखिया मोहनियाँ नौकरी छोड़कर चली आई, और उस दिन से फिर मस्ता की लाठी का शिकार बनने लगी। उसका कष्ट पहले से भी अधिक बढ़ गया। मार से बढ़कर सेठ जी की वह बात— 'याद रख, मेरा हुक्म न मानने का नतीजा जल्द मिलेगा'— उसको पीड़ित कर रही थी। वह इस हीन अवस्था में भी— अपनी हड्डियाँ कुचलवाकर भी— पति-पुत्र के साथ किसी प्रकार दिन गुजार देती; पर यह भी आधार न रहा तो? ईश्वर ही उसका रक्षक था।

अबला का करुण-क्रन्दन शायद ईश्वर भी नहीं सुनता। उसे भी स्त्रियों पर दया करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। मोहनियाँ टुकुर-टुकुर देखती ही रह गई, पुलिस घर में घुसी और हाथों में हथकड़ी पहना कर मस्ता को ले गई।

चारों ओर शोर मच गया— 'रात सेठजी के घर मस्ता ने चोरी की थी।'

मोहनियाँ के समझने को कुछ बाक़ी न रहा। दुःख पर दुःख! अब वह क्या करे? मस्तिष्क में विचार करने की शक्ति न थी, हृदय व्यथा के बोझ से फटा जाता था, आँखें आँसुओं का भारी वेग रोकने में असमर्थ हो रही थी, शरीर काँप रहा था, वेदना फूटी पड़ती थी, फिर भी वह दीवार के सहारे मौन खड़ी थी; पर उसी समय किसी ने धीरे से कान में कहा—"सेठ जी कहते हैं अभी खैरियत है— मै मस्ता को छुड़वा सकता हूँ। बोल, हाँ कहती है या नहीं?"

मोहनियाँ तड़प उठी, चीत्कार कर उठी। उस आदमी की निष्ठुर सूरत उसे मानो निगले जाती थी। उसके कठोर शब्दों ने उसे पागल बना दिया। सारी शक्तियाँ जवाब दे गईं, आँसुओं का दरिया बह निकला, वेदना फूट पड़ी। छटपटा कर उसने बच्चे को छाती से दबाया और भाग चली।

मगर जाती कहाँ? पति को छोड़ कर उसके लिए स्थान ही कौन है? रोते-कलपते हवालात के सामने जाकर गिर पड़ी। उसकी यह

करुण-चीत्कार मानो चिल्ला-चिल्लाकर मस्ता से कह रही थी—तुम्हारी उस बुरी आकान्ता ही के कारण मेरी यह दुर्गति हुई है।

उसके इस रोने ने मस्ता के कठोर हृदय को भी हिला दिया। वह सान्त्वना देने का कोई तरीका सोचता, इससे पहले ही एक कान्स्टेबिल ने मोहनियाँ को दुत्कार कर वहाँ से भगा दिया।

जो मस्ता पैसे के लिए मोहनियाँ पर भीषण अत्याचार करता था, आज कान्स्टेबिल द्वारा उसे अपमानित होते देख कर तिलमिला उठा—उसकी नाड़ियों का रक्त खौल उठा; मगर करता क्या? बेबस था। केवल इतना सोच कर रह गया— हाय! मै उससे क्या कराना चाहता था! मजदूर होकर मैंने पैसा जोड़ने की इच्छा क्यों की? यह उसी का दण्ड है। मैं भूल क्यों गया— मै सेठ मदनलाल नहीं, मस्ता कहार हूँ?

मज़दूर कोई आशा, कोई उम्मीद ही क्यों करे? उसके हृदय में धनवान बनने की अभिलाषा ही क्यों हो? और हो भी, तो इस घृणित कमाई के सिवा पैसा कमाने का उसके पास दूसरा जरिया ही क्या है? परिश्रम से तो भर-पेट रोटी भी मयस्सर नहीं होती।

मस्ता ने आज जाना— मज़दूर संसार में भूखों मरने को आता है, आराम करने को नहीं। मस्ता का जीवन अब जेल में चक्की पीसकर ही बीतेगा? क्यों नहीं, अब तो वह हमेशा के लिये चोर बन गया न! और मज़दूर की स्त्री मोहनियाँ? वह पुत्र को छाती से चिपटाये, गली-

गली ठोकरें खायगी, पागलों की भाँति घूमेगी, रोयेगी, भूख-प्यास से छटपटायेगी, तड़पेगी, चिल्लायेगी।

इसी प्रकार एक दिन घुल-घुलकर सड़क के किनारे पहले बच्चे को मरते देखेगी— उसे बिना कफन के दफनायेगी, फिर स्वयं मर जायगी। उनके जीवन का इससे बढ़िया अन्त और हो ही क्या सकता है?

मेरी रानी

दोनों एक ही स्थान पर जन्मे, एक ही वातावरण में पले थे।

दोनों गॉव से बाहर नदी किनारे बैठकर, बालू के घरौंदे बना-बनाकर खेले थे। उन्हे अपने में किसी प्रकार का भेद्-भाव, अन्तर, दिखाई न देता था। धन-सम्पत्ति, ऊँच-नीच, किसी ने न जाना था; वहाँ तो न राजा बनते देर लगती, न फ़कीर.। तालाब से कमल तोड़ कर रानी का नौलखा हार बन जाता और ढाक के पत्तों में सीके चुभो कर राजा का मुकुट। नदी की बालू का महल और टूटे खँडहर का सिंहासन। दोनो साज सजा कर सिहासन पर बैठते और वास्तविक राजाओं से कहीं बढ़-चढ़ कर आनन्द का अनुभव करते।

हरी बॉस का तीर-कमान लेकर निशाना ताकता और कान्ति ढेर से जंगली फूल बटोर कर राजा के लिए माला गूँथती। राजा कहता—

'मेरी रानी, मै परदेश जाऊँगा, तुम्हारे लिए क्या सौग़ात लाऊँ ?' रानी कहती— 'बडी-सी सुई और पेचक, जिससे फूल जल्दी-जल्दी गुँथ जाया करे, तो तुम्हारे लिए अच्छा गजरा तैयार कर सकूँगी।'— राजा कहता— 'सुई तो छोटी नहीं है। माली भी इतनी ही बड़ी सुई से हार बनाते हैं। अभी तुम ठीक से फूल गूँथना नहीं जानतीं; तुम्हारी उँगलियाँ छोटी-छोटी हैं। लाओ, मै भी फूल गुँथवा लूँ।'

दोनों के परिश्रम से गजरा तैयार हो जाता, दोनों एक दूसरे के गले में पहना कर आनन्द से फूल उठते। भोले बालक क्या जाने कि यह आनन्द स्थायी न रहेगा। क्रूर संसार प्रकृति का यह सच्चा सौन्दर्य कैसे देख सकेगा ?

आह रे बालपन, तेरी लीला भी न्यारी है! जब तक तेरा साया रहता है, आनन्द मानो हाथ बाँधे खड़ा रहता है, और तेरे विदा होते ही फिर जीवन-भर यह मस्ती मयस्सर नहीं होती।

— २ —

अमीर-गरीब में मित्रता कैसी ? फिर स्त्री-पुरुष में! दोनों बड़े हुए। संसार ने जतला दिया कि एक सम्पत्तिशाली ज़मींदार का पुत्र है और दूसरी गरीब किसान की कन्या। अब दोनों का मिलना-जुलना, चाँदनी रात में दरिया के किनारे गले में बाँहें डाल कर बैठना, कभी सम्भव नहीं। लज्जा प्रकृति ने सिखाई, पाप-पुण्य संसार ने।

अब कान्ति पानी भरने कुएँ पर जाती है, तो हरी को देखकर आँचल सरका लेती है। निगाह भरकर देखने को जी चाहता है; किन्तु इच्छा के विरुद्ध गर्दन नीची कर लेती है। बात करने की मनाई है। हाँ, जब कुएँ पर शून्यता का पहरा होता है, तो वृक्ष की ओट में खड़े हुये हरी को चुपके-चुपके देखकर मुस्करा देती है। हरी भी ऐसे समय कुएँ के पास पहुँचने में देर नहीं करता। और उपाय ही क्या है? एक साथ संसार की सारी निष्ठुरता बटोर कर वे कैसे अपने हृदय में भर लें? जब से होश सँभाला, क्षण-भर को भी एक दूसरे से विलग न हुये, तो एक दूसरे के अगाध प्रेम में सराबोर क्यों न होते? हर समय एक दूसरे को देखने को मन तरसता था, तो इसमें आश्चर्य ही क्या? अपने जीवन की सुनहरी घड़ियाँ, प्यारी-प्यारी स्नेह-भरी बातें वे कैसे भूल जायें?

और यह तालेबन्दी तो चौगुनी याद दिलाती है। प्रेम बालपन की भाँति बेवफ़ा तो नहीं होता। वह छोड़कर भागता नहीं, वरन् अधिकाधिक दृढ़ होता जाता है। प्रकृति की रीति ऐसी ही है। हाँ, संसार भले ही अपनी कूटनीति से उसमें परिवर्तन कर दे। निर्दयी संसार यह देख ही कब सकता है कि मनुष्य मेरे वातावरण से विलग रहकर बालपन की भाँति पवित्र रहे?

— ३ —

हरी गाँव छोड़कर शहर में पढ़ने लगा; परन्तु हर छुट्टी में घर आता था, और किसी-न-किसी प्रकार भेंट-मुलाक़ात हो ही जाती थी।

गर्मियों की छुट्टियाँ आ गईं। गाँव में ज्यादा दिन रहने का अच्छा मौका है। अब वह कालेज का विद्यार्थी है। उसने संसार का बहुत-कुछ ज्ञान प्राप्त किया है, और बड़े-बड़े सामाजिक परिवर्तनों से भी वह परिचित हो रहा है। वह सामाजिक क्रान्ति पर आवाज उठाना क्यो न सीखे? इस बार वह अवश्य गाँव जाकर कान्ति से प्रकट रूप से भेंट करेगा, और सबके सामने बातचीत भी करेगा, इसमे दोष ही क्या है? दोनो के हृदयों में पवित्र प्रेम है, उसे छिपाये क्यो? चुरा-छिपाकर मिलना अब उसकी आत्मा स्वीकार नहीं करती। गाँव वालो की मूर्खता तो देखो, मुझसे कान्ति को परदा करना पड़ता है! यह कपट-जाल गाँव के वातावरण में पहले तो नहीं था। शहर की वायु से यह विकार उत्पन्न हुआ है। वह इसे दूर करेगा।

इस बार हरी कान्ति के घर जाकर कहेगा,— 'चाची, भला, एक बात तो बताओ, कान्ति मुझसे परदा क्यों करती है, क्या मैं बेगाना हूँ?' वह कहेंगी— 'भैया, तुमसे परदा कैसा? पर तुम हमारे अन्नदाता हो, तुम्हारा लिहाज़ तो करना ही चाहिये।' वह कहेगा— 'ना चची, यह न होगा, मै तुम लोगों के लिए वही हरी हूँ, जो कान्ति के साथ दिन-दिनभर तुम्हारे घर खेला करता था। तब तो लिहाज़ न करती थी। कभी प्यार करती थी, तो कभी घुड़क देती थी। चाची, इस बार मै गाँव की सब लड़कियों को इकट्ठी करके पढ़ाया करूँगा। कान्ति को तो मैंने बहुत-कुछ पढ़ा-लिखा लिया था; बीच में अगर छूट न जाता, तो अब तक वह बहुत-कुछ पढ़ गई होती।'

चाची कदापि उसकी बात को अस्वीकार न करेगी, और मन्दिर के पीछे वाले बराण्डे में दोपहर के समय पाठशाला लगा करेगी। वह अंगरेज़ी पढ़ायेगा और मन्दिर के पुजारी जी हिन्दी।

– ४ –

गाँव पहुँचकर इस इच्छा-पूर्ति के लिए वह कान्ति के घर गया।

कान्ति दालान में बैठी साग काट रही थी, और उसकी माँ आँगन में पीढ़ी डाले सूत कात रही थी। और दिन होता, तो शायद हरी 'चाची पालागन' कहता, आँगन मे जाता ; पर आज वह दालान ही में रुक गया। आँखे चार हुई। यद्यपि साहस बटोर कर वह गया था तथापि न-जाने क्यो दिल धड़-धड़ धड़कने लगा। हरी क्षण-भर के लिए रुका, फिर चित्त स्थिर करके ज़रा मुसकरा कर बोला—"कान्ति, अच्छी तो हो ?"

कान्ति बोल न सकी। हाँ, एक बार आँखे ऊपर उठा दीं। इस एक दृष्टि मे न-जाने कितने भाव अंकित थे, 'जब तुम आ गये हो, तो अच्छी ही हूँ। एक बार रोज़ किसी प्रकार दर्शन देते रहना ; पर इस तरह बेधड़क बात न करो। अम्मा, क्या कहेगी ?' आँखो की मौन भाषा मानो हरी समझता था। चेतना-सी पाकर वह सीधे आँगन में चला गया।

ज़मींदार का पुत्र यशोदा का सम्मान करता है, यशोदा इतने से ही अपने को भाग्यशाली समझती है। वह यशोदा से कितना स्नेह करता है। गाँव मे पैर रखते ही यशोदा के पास दौड़ा आता है।

यशोदा भी उससे कुछ कम स्नेह नहीं करती। बालपन ही से उसे, हरी की माँ से भी अधिक, हरी को लाड-प्यार करने का अवसर मिला हैं; सारे दिन हरी उसी के घर तो पड़ा रहता था। इसी कारण तो ज़मींदार-परिवार में भी यशोदा का मान है। और जाति-बिरादरी वालों की ईर्ष्या का यही सबसे बड़ा कारण है। यशोदा जानती है कि गाँववाले उस पर टीका-टिप्पणी करने का अवसर ढूँढा करते हैं। फिर गरीब की सब प्रकार से कठिनाई है, अभी लोग जमीदार की इतनी कृपा-दृष्टि नहीं देख सकते। यदि कान्ति के लिए कोई कुछ कह देगा, तो बेचारी यशोदा क्या करेगी? यदि आज वह भी ज़मींदार की भाँति सम्पत्तिशाली होती, तो गाँव वालो का उसके खिलाफ चूँ करने का भी साहस न होता।

यशोदा को यदि समाज का भय न होता, तो वह कदापि इन दोनो के सरल प्रेम में बाधा न डालती; बल्कि उसे भी तभी शान्ति मिलती, जब कान्ति सदैव हरी के साथ पहले जैसा ही व्यवहार रख सकती। दोनों की बालपन की क्रीड़ाएँ उसे स्मरण हैं। क्या ही अच्छा होता, यदि कान्ति स्वतन्त्रता के साथ हरी भैया कहकर आवभगत कर सकती। कभी हरी कान्ति की ससुराल पहुँचता, तो वह भैया से भेंट कर रो तो लेती, किन्तु यशोदा की कल्पना यहीं पर रुक जाती। आँखो से चार बूँद आँसू टपका देने के सिवा और वह क्या करे? आज वह अमीर होती, तो उसकी कल्पना सफल हो सकती।

बगीचे भी हैं। लड़का दसवें दर्जे में पढ़ता है। जेठ लगत साते को लगन है।"

हरी को मानो लकवा मार गया। मुँह का कौर मुँह में और हाथ का हाथ ही में रह गया। यशोदा से उसकी यह हालत छिपी न रही। वह बोली— "भैया, खाओ न, लड़कियाँ किसकी अपने घर रही हैं?"

अब हरी सचेत हुआ, अपनी दशा का स्मरण कर लज्जा पर परदा डालने के लिये वह बोला— "ठीक कहती हो, चाची!" और किसी प्रकार कटोरे का खोवा गले से उतार, बिना हाथ धोये ही, यह कहता चला गया— "चाची, फिर आऊँगा।"

— ५ —

हरी के हृदय में स्नेह था, ममता थी और था हृदय पर अङ्कित कोई चित्र। चित्त हर समय कल्पना के पुजापा द्वारा हृदय-मूर्ति की पूजा करता। मौन वाणी उसी के नाम का जाप किया करती। आँखें कल्पित चित्र से ही शान्त न थीं, वे हर समय प्रत्यक्ष देखने को तरसती थीं। स्मृति सब-कुछ भूलकर अपने अतीत काल ही में तल्लीन थी। श्रवण-शक्ति समीर के झकोरे में भी इष्टदेव के मृदु स्वर का गान करती। जब वे इस प्रकार लिप्त थे, तो अपनी स्थिति का ज्ञान प्राप्त करने को समय कहाँ से लाते? मस्तिष्क तो एक बार मन-भर के निहार लेने के उपाय ढूँढने ही में खर्च हो जाता। अपने प्रेम की थाह और परिणाम का अनुमान वे कैसे करते?

कब का भूखा हो, और अवसर देखकर अपना विचार भी कहने लगा—
"चाची, कान्ति की पढ़ाई-लिखाई तो सब छूट गई होगी?"

"नहीं भैया, वह तो मौका पाते ही तुम्हारी दी हुई किताबे पढ़ा करती है। रामायण भी खूब बाँच लेती है। बेटा, तुमने बड़ा अच्छा किया, जो थोड़ा-बहुत इसे अक्षर-ज्ञान करा दिया। ससुराल जाकर अपने हाल-हवाल की एक चिट्ठी तो भेज सकेगी।"

"ना चाची, चिट्ठी-पत्री ही लिख लेना काफी नहीं है। पढ़ने-लिखने से ज्ञान प्राप्त होता है। मै इस बार सोचकर आया हूँ कि कान्ति, रुक्मिनी, चमेली— सबको पढ़ाऊँगा। चाची, तुम भी पढ़ना।"

यशोदा हँसती हुई बोली— "मै अब बुढ़ापे में क्या पढ़ूँगी? कुछ जानती होती, तो एक बार जतन भी करती; पर मेरे लिये तो करिया अक्षर भैंस बराबर है। हाँ, ये लड़कियाँ तो पढ़ाई की बात सुनकर बड़ी खुश होंगी; पर अब वक्त कहाँ है? घर ही मे बहुत काम हैं। ब्याह के दिन ही कै रह गये हैं?"

"किसका ब्याह, चाची?"

"अरे, क्या तुम्हे जीजी ने नहीं लिखा? मै तो उनसे तुमको खबर देने को कह आई थी। भैया, तुम लोगों की दया से कान्ति की सगाई पक्की हो गई है। घर-वर अच्छा है। बीस बीघा जोतते हैं, कुछ बाग-

बगीचे भी हैं। लड़का दसवें दर्जे में पढ़ता है। जेठ लगत साते को लगन है।"

हरी को मानो लकवा मार गया। मुँह का कौर मुँह में और हाथ का हाथ ही में रह गया। यशोदा से उसकी यह हालत छिपी न रही। वह बोली— "भैया, खाओ न, लड़कियाँ किसकी अपने घर रही हैं?"

अब हरी सचेत हुआ, अपनी दशा का स्मरण कर लज्जा पर परदा डालने के लिये वह बोला— "ठीक कहती हो, चाची!" और किसी प्रकार कटोरे का खोवा गले से उतार, बिना हाथ धोये ही, यह कहता चला गया— "चाची, फिर आऊँगा।"

— ५ —

हरी के हृदय में स्नेह था, ममता थी और था हृदय पर अङ्कित कोई चित्र। चित्त हर समय कल्पना के पुजापा द्वारा हृदय-मूर्ति की पूजा करता। मौन वाणी उसी के नाम का जाप किया करती। आँखें कल्पित चित्र से ही शान्त न थीं, वे हर समय प्रत्यक्ष देखने को तरसती थीं। स्मृति सब-कुछ भूलकर अपने अतीत काल ही में तल्लीन थी। श्रवण-शक्ति समीर के झकोरे में भी इष्टदेव के मृदु स्वर का गान करती। जब वे इस प्रकार लिप्त थे, तो अपनी स्थिति का ज्ञान प्राप्त करने को समय कहाँ से लाते? मस्तिष्क तो एक बार मन-भर के निहार लेने के उपाय ढूँढने ही में खर्च हो जाता। अपने प्रेम की थाह और परिणाम का अनुमान वे कैसे करते?

भक्त यह जानकर कि इष्टदेव हृदय में आसीन हैं, सदैव इतने ही में सन्तोष नहीं कर सकता; मगर इससे कुछ सान्त्वना रहती है। इसी प्रकार इनके भी दिन व्यतीत हो रहे थे।

दैव से यह भी सुख देखा न गया। अब विवाह-रूप विष दोनों के हृदयों को मथे डालता था। हरी ने उस दिन से कान्ति के घर पैर न रखा। कान्ति ने घुल-घुलकर शय्या की शरण ली। वह सोचती—'मुझसे नाराज क्यों हो? दिन-रात एक-आँख देखने को तरसती हूँ। घंटों कुएँ पर इसी आशा में बैठी रहती हूँ; पर आते नहीं! तुम्हें अपना हृदय चीर कर कैसे दिखाऊँ? यह तो तुम्हारा है, और सदा तुम्हारा रहेगा। घुल-घुल कर मर जाने के सिवा और मेरे पास उपाय ही क्या है? मैं तो मूर्ख ठहरी, तुम तो पढ़े-लिखे हो, कुछ उपाय क्यों नहीं करते? कुछ न करो तो कम-से-कम जब तक जिन्दा हूँ, इस प्रकार आँखें तो न फेरो। तुम्हारे दर्शनों की चाह में यह प्राण भी तो रुके रहेंगे।'

हरी सोचता—'मैं कब इस प्रकार अपना हृदय खो बैठा और मुझे ज्ञात भी न हुआ? वह बालपन का सरल स्नेह इस रूप में कब परिणत हो गया? मैंने तो कभी इस धारणा को हृदय में स्थान देने की चेष्टा ही न की थी। क्या उपाय करूँ? समाज ही की तालेबन्दी ने यह आग लगाई है। यदि अब अपना हृदय समाज के सम्मुख खोल कर रखूँ, तो कलंक के सिवा और क्या मिलेगा? कान्ति के परिवार पर कलक-कालिमा लग जायगी। उसके माता-पिता ब्राह्मण होकर एक

ठाकुर से विवाह किस प्रकार करेंगे ? क्या कहीं ऐसा स्थान भी है, जहाँ उसे ले जाकर समाज की दृष्टि से परे रहूँ ? मैं तो किसी प्रकार पत्थर का दिल करके बैठ रहूँगा; पर उस बेचारी की क्या दशा होगी ? कई दफा पत्र भेजकर एक बार मिलने का आग्रह कर चुकी है। कैसे जाऊँ, हिम्मत नहीं होती। क्या कहकर उसे सन्तोष दूँगा ? कान्ति, मैं तुम्हारी रक्षा करने में सर्वथा असमर्थ हूँ।'

अन्त में बुद्धि ने निश्चय किया कि वह एक बार कान्ति से एकान्त में भेंट करेगा और उसे त्याग की सीख देगा। प्रेम तो पवित्र वस्तु है—शारीरिक विच्छेद हो जाने पर भी अटल रहेगा; किन्तु अब समय कहाँ ? कान्ति से किस प्रकार साक्षात् हो ? घर पर बारात आ गई है। लगन का मुहूर्त समीप है। बेचारा अब क्या करे ? संध्या तक अवसर था, स्वयं कान्ति का पिता बुलाने आया था। हाँ, यही तो कहता था न—'भैया न जाने क्या हो गया है, क्षण-क्षण में मूर्छा आ जाती है। पास में कोई डाक्टर-वैद्य नहीं, तुम्हीं चलकर देख लो, अपने बक्स में से कोई दवाई दे देना।' सर-दर्द का बहाना करके वह गया नहीं। हाथ आया अवसर उसने स्वयं खो दिया। अब तो मानो वहाँ का द्वार ही उसके लिए बन्द है। तो क्या अब जीवन में कान्ति फिर कभी देखने को न मिलेगी ? इस बार क्या-क्या अरमान लेकर वह गाँव आया था ; परन्तु विधि के हाथों वह कैसा ठगा गया।

अब इस सूखे हृदय को लेकर वह क्या करे ? कहाँ जाय ? कैसे शान्ति मिले ? अब वह इस जीवन ही को लेकर क्या करेगा ?

माता-पिता की सेवा, प्रजा की रक्षा, समाज का उद्धार— अब उससे कुछ न हो सकेगा। उसमें शक्ति होती, तो वह अपने प्राणों से भी बढ़कर प्रिय वस्तु का बलिदान क्यो होने देता ? वह कायर है, अब कायरता ही मे जीवन व्यतीत करेगा। कहीं एकान्त में, मनुष्य-समाज से परे, कुटी बनाकर प्रेमदेवी की आराधना करेगा। कुछ घंटे भी अब इस जलवायु में क्यो रहे ? अभी क्यो न चल दे ? हाँ, ठीक तो है। विवाह के समय फिर उसकी पुकार मचेगी। माता जी कहती हैं, भाई के नाते वह कान्ति के पैर पूज आवे। यह उससे कदापि न होगा। समाज ने उसके लिए इस कार्य में स्थान ही कहाँ रखा ? उसे खूब स्मरण है, जब उन दोनो के ऊपर पहरा न था, तब यह प्रेम निःस्वार्थ था। यह आग तो समाज ने तड़पा-तड़पा कर उत्पन्न की है। इस कायरता ने शायद तब ही चुपके से प्रवेश किया, जब चोरी से उसे देखने को छिपता फिरता था। अरे समाज ! तुझी ने तो सिखाया कि युवावस्था में शुद्ध प्रेम रहना असम्भव है। बता, उसे यह ध्यान क्यों दिलाया ? कान्ति अब यौवन में पदार्पण कर रही है, इसीलिए उसकी दृष्टि से बचाई जाती है। फिर वह उसके सौन्दर्य को निरखने को उतावला क्यों न हो उठता ?

इन सब बातो को वह कहाँ तक सोचे। मन-ही-मन कहने लगा— 'अब सदैव के लिए समाज से सम्पर्क छोड़ता हूँ। कान्ति, मुझे क्षमा करना। तुम्हारी अन्तिम अभिलाषा पूर्ण न कर सका। अब दूसरे जन्म मे भेट होगी।'

– ६ –

हरी अपना आवश्यक सामान, पुस्तक आदि लेकर एक ओर चल दिया। बारात की धूमधाम में उसकी ओर कौन देख सकेगा ; पर उसकी छोटी बहन किशोरी ने हाँपते हुए पीछे से पुकारा— "हरी दादा, कहाँ जाते हो ? बारात न देखोगे ?"

हरी ने ठहर कर बालिका का मुँह चूम लिया और हृदय के आवेग को रोकता हुआ बोला— "तुम चलो, मैं आता हूँ।"

चतुर बालिका ने एक काग़ज़ का टुकड़ा उसके हाथ में धर दिया। अपरिपक्व हाथ के टेढ़े-मेढ़े अक्षर थे। आँसुओं से भरी धुँधली आँखों से हरी ने जो पढ़ा, उसका आशय यह था—

"मेरे रूठे देवता,

ठीक है, इसी प्रकार रूठ कर निर्दोष दासी को भुला दो ; पर एक अन्तिम प्रार्थना स्वीकार कर लो। बस, एक बार किसी प्रकार दर्शन दे दो। प्राण इसी आशा में अटके हैं। मेरे देवता, क्रुद्ध न हो, तुम्हारी रानी तुम्हारी ही रहेगी, भले ही प्राणों की बाज़ी लगा देनी पडे।

तुम्हारी— रानी।"

सब-कुछ भूलकर हरी पत्र के अक्षर देखता रहा। न जाने कब तक मन्त्रमुग्ध की भाँति खड़ा रहा ; पर किशोरी ने उसे हिलाकर कहा— "भैया, कान्ति जीजी ने कहा है, जल्दी जवाब लिख दो।"

इतने थोड़े समय में वह कैसे लिखता कि वह रूठा नहीं है, उस ने टेढ़े-मेढ़े अक्षरों में लिख दिया—

"मेरी रानी,

तुम्हारे ही साथ इस गाँव से मेरा नाता छूट रहा है ; पर तुम्हारे अन्तिम दर्शनों की इच्छा-पूर्ति के लिए कल तक अपनी उसी आम की बगिया में छुपा रहूँगा, जहाँ तुम्हें अपनी रानी बनाकर खेला करता था। तुम्हारी गाड़ी उधर ही से तो जायगी। इतने ही से सन्तोष करना होगा। दूसरा उपाय ही क्या है ?

"तुम मेरी हृदयेश्वरी होकर कायरतावश आत्मघात का विचार न करना। इस जन्म में न सही, दूसरे जन्म में अवश्य हमारी इच्छाएँ पूर्ण होंगी। बस, विदा। कान्ति, सदैव के लिए विदा।

तुम्हारी— हरी।"

* * *

कान्ति सब-कुछ भूल कर वृक्षों की पंक्तियों के भीतर कुछ खोज रही थी। घने आम के वृक्ष क़तारों मे निकलते चले जाते थे। अरे, अब तो बाग़ की सीमा समाप्त होने को आ गई ; पर अब तक कहीं दिखाई नहीं दिये ! निराशा से उसका मन विचलित होने लगा। हृदय ज़ोर-ज़ोर से धड़कने लगा। उस धड़कन में आशा-निराशा के काले बादलों का संघर्ष हो रहा था— कहीं आज दर्शन न हुए, तो, जीवन-भर दुर्लभ हैं। वह सोचने लगी— 'कहीं ऐसा तो नहीं हुआ,

वे खड़े हों और मैं वृक्षों की घनी छाया में देख नहीं पाई। आँखों के सामने अँधेरा क्यों जान पड़ता है? कहीं मूर्छा न आ जाय। भगवान्, थोड़ी देर के लिए मुझे शक्ति प्रदान करो। एक बार, सिर्फ एक बार फिर उस स्वर्गीय आनन्द के समुद्र में डुबकी मार लेने दो। केवल एक बार इन अभागी आँखों को जीवन के अन्तिम सुख का दृश्य देख लेने दो। मेरे इस क्षणिक सुख में बाधा न डालो। सारी शक्ति एकत्रित करके आँखों में वह रूप इस प्रकार भर लेने दो, जो मृत्युपर्यन्त नेत्रों से ओझल न हो।'

लाख शक्ति बटोरने पर भी कान्ति का शरीर शिथिल होने लगा। निर्दयी मूर्छा का रोग उसका यह क्षणिक सुख भी हड़प करना चाहता था। दूसरी ओर निराशा आशा पर विजय पाने के लिए लालायित थी। अभी बाग की सीमा आधी ही समाप्त हुई थी; परन्तु कान्ति को ऐसा जान पड़ा कि बाग़ निकल गया। अब दर्शन न होंगे। एक आह के साथ मूर्छा ने अपना अधिकार जमाना चाहा। कान्ति बलहीन हो गई। उसी समय बन्द होती आँखों ने देखा— हरी वृक्ष की ओट में खड़ा राह में आँखें बिछाये है। आँखें चार होते ही कान्ति के हृदय में एक वेग की लहर-सी आई, मूर्छा दूसरे रूप में परिणत हो गई, और वह बेहोश हो गई। हरी फिर भी स्तब्ध रहा।

हरी आज भी उस बगिया में—"मेरी रानी! मेरी रानी!" पुकारा करता है।

कंर्कशा

सुबह से शाम तक मशीन की तरह काम में जुते रहना और साथ ही अपनी जीभ को फुल स्पीड पर चलने देना, यही कौशल्या की दिनचर्या थी। काम न होता, तो उसका मन उदास हो जाता, जीभ बन्द हो जाती और क्रोध का वेग दूना बढ़ जाता। फिर वह ऐसा प्रचण्ड रूप धारण करती कि किसी को उसके सामने जाने का साहस ही न होता। ऐसे समय यदि कोई मधुर वाणी में उसके प्रति सहानुभूति भी प्रकट करता, तो कौशल्या उसकी ही नहीं, उसके सात पुरखों तक की ख़बर ले डालती। उसका स्वभाव ही विचित्र था।

कौशल्या के शरीर पर अब बुढ़ापे की कुदृष्टि पूर्णतः पड़ चुकी थी; परन्तु जिस प्रकार उसके सौन्दर्य में अवस्था के अनुसार अधिक परिवर्तन नहीं हुआ था, उसी प्रकार शायद शारीरिक शक्ति भी वफादारी का

प्रमाण दे रही थी। इस वृद्धावस्था में भी कौशल्या हजार नवयुवतियों में अच्छी थी, और शौकीन भी खूब थी। जवानी की कौन जाने, अब भी उसके साज-सिंगार का ठिकाना न था। बाएँ गाल में हर समय पान की गिलौरी दबी रहती और हिलते-डुलते दाँतो पर मिस्सी की धड़ी जमी रहती। कौशल्या क्या जाड़ा, क्या गर्मी, सदा गरम पानी से स्नान करती— अधिकतर टेसू के फूलो से उबाले पानी से। "यह क्यो ?"— यदि कोई पूछे, तो बीस बाते सुने। जानते सब थे कि रंग में चमक बनी रहे, इस इच्छा से यह आयोजन है। स्नान से पहले तेल की मालिश होती और स्नान के बाद दूध की मलाई से। बढ़िया-बढ़िया रंग के दुपट्टे ओढ़ती और माँग-चोटी से दुरुस्त रहती।

मगर यह शौकीनी काम में बाधक न होती। कहिये तो वह अपने हिस्से के अलावा दूसरो के हिस्से का भी काम कर डाले। ढूँढ-ढूँढ कर काम निकाल लेती। हारी-बीमारी में भी विश्राम न लेती। कष्ट में भी लाठी टेक-टेक कर चलती, घसिट-घसिट कर काम करती रहती ; पर हार न मानती। हाँ, घर के मालिक-मालिकिन पर जीभ से अहसान का बोझ लादने की बराबर चेष्टा किया करती, और अब अपना पौरुष न चलने के शोक में आँसू भी बहाती जाती।

यदि मालिकिन इस बकबक-झिकझिक पर क्रुद्ध हो उठतीं, तो यह रफ्तार दूनी बढ़ जाती, और यदि प्रशंसा के शब्दों में केवल इतना ही कह देतीं— "कौशल्या, बुढ़ापे का शरीर है, हारी-बीमारी में तो पड़ी रहो।" कौशल्या रोती तो तब भी ; पर कुशब्दो के

बदले मालिकिन के लिए मुख से आशीषों की फुलझड़ियाँ छूट पड़ती थी।

कौशल्या का काम ही कदाचित् वह गुण था, जो घर की स्वामिनी पर यथेष्ट प्रभाव जमाये था। इतनी कर्कशा होने पर भी एक रईस परिवार में उसका निर्वाह हो रहा था। वह जब इस घर में आई, तो उसका परिचय देने वालों ने कहा— "यह अव्वल नम्बर की लड़ाका और चरित्रहीन है। इसने एक सर्राफ के यहाँ नौकरी की थी। दुर्भाग्यवश सर्राफ़ की स्त्री का स्वर्गवास हो गया, तो यह घर की मालिकिन बन बैठी। जब तक सर्राफ जीवित रहा, खूब मजे उड़ाये; अब उसके लड़कों ने निकाल दिया, तो आपके घर आई है। असल में यह भले घर में रहने योग्य नहीं है।"

यह सब सुनकर भी उस समय आवश्यकतावश मालिकिन ने कौशल्या को इस विचार से रख लिया कि और नौकरानी मिलने पर इसे जवाब दे दूँगी; परन्तु धीरे-धीरे दस वर्ष बीत गये, और मालिकिन कौशल्या को निकाल न सकीं। निकालतीं भी कैसे, वे जानती थीं कि कौशल्या उन्हें कितना आराम पहुँचा रही है। दस नौकरानियाँ भी उस कमी को पूरा न कर सकेंगी। हारी-बीमारी में वह मालिकिन की ऐसी सेवा करती, जैसी उनके आत्मीय भी न कर सकते।

— २ —

मालिकिन के सिवा घर के सब लोग कौशल्या से असन्तुष्ट रहते। हर समय लड़ाई-झगड़ा और गन्दी-गन्दी गालियाँ कौन सुने? खाने-पीने की भी कौशल्या शौकीन थी। घी-दूध-मलाई का सबसे अधिक भाग उसी के पेट मे जाता; पर किसी ने ज़ुबान भी हिलाई, तो कुशल नहीं। कौशल्या घर की बहू-बेटियो तक को भी बुरा-भला कहने में चूकती न थी।

सब दोष होते हुए भी उसमें एक गुण भी था, उसके हृदय में ममता थी। मुँह से चाहे कितनी ही गालियाँ दे ले, हृदय से किसी का अशुभ न चाहती थी। पेट में कपट न था। यदि किसी को तकलीफ में देखती, तो यथाशक्ति जो कुछ कर सकती, करती। छोटे बालक उसे बहुत प्यारे थे। अपनी दूध-मलाई भी, जो उसे यथेष्ट प्रिय थी, वह बच्चों को खिला-पिला देती थी। बालक भी कौशल्या से हिले हुये थे। परन्तु, जब बालक बड़े होकर दूसरों की देखा-देखी उसे चिढ़ाने लगते, तो फिर वह बालकों को पास फटकने भी न देती। झींगुर, करेला, कटी मछली का मूँड़, इन नामों से कौशल्या चिढ़ती, रोती और गालियाँ भी देती, और सारा काम छोड़कर कोठरी में बन्द होकर बैठ रहती; परन्तु इससे उसका भीतरी स्नेह कम न होता। कोई बालक यदि कभी बीमार हो जाता, तो बेचारी तन-मन से व्याकुल हो जाती, और आँखों से सावन-भादों की झड़ी लग जाती।

परन्तु कोई ऐसा न था, जो उसके इस स्नेह को यथार्थ मानने को तैयार हो। कारण, कौशल्या झूठ तथा दिखावे में मशहूर थी ही। गूलर का फूल कौशल्या ने देखा था, परियों के तख्त उसने उड़ते देखे थे, और बीसियों बार भूत-प्रेतो को चूना-तम्बाकू मलकर वह खिला चुकी थी। राम-लक्ष्मण के दर्शन उसे होते थे। लक्ष्मी जी स्वयं एक बार प्रसन्न होकर हरी लौंग उसे दे गई थीं, जिसे उसकी सौतो ने उसके पास से चुरा लिया, वरना उसे आज दूसरो की नौकरी क्यों बजानी पड़ती? कौशल्या गंगा-गोमती कहीं भी जाती, उसे जिन्न या परियाँ अवश्य मिल जातीं; क्षण-भर में ही वह ऐसे क़िस्से गढ़ती कि सुनने वाले हैरान रह जाते; किन्तु उसकी बातों को असत्य समझने की धृष्टता किसी ने की कि फिर कुशल नहीं।

इस घर में अपना परिचय कौशल्या इस प्रकार देती थी— 'मेरा पति माल-असबाब के साथ मेरी सौत को साथ लेकर, मुझे रात में सोता छोड़कर, कहीं चला गया। एक लड़का था, उस पर भी सौत ने जादू करा दिया। लड़के का मन मुझसे फिर गया, और वह बारह वर्ष की ही अवस्था में घर छोड़कर फकीर हो गया।'

कौशल्या की इस बात को भी सब लोग झूठ ही मानते, क्योंकि बहुतो का कहना था कि इसी के कलह से तंग आकर लड़का कहीं चला गया, और पति तो लड़के के जाने से पहले ही मर गया था। यह छिपाती इसलिये है कि कोई साज-सिंगार पर टीका-टिप्पणी न करे।

वह भले ही विधवा हो ; परन्तु अब भी वह पुत्र तथा पति के त्योहार बड़े समारोह से मनाती। वह कहती— 'रामकिसुन के दादा कहीं भी हों, उनकी कुशल तो मनाना उचित ही है।' सिन्दूर और चूड़ियों का त्याग भला वह कैसे कर सकती थी ?

कौशल्या को अब तक तो कुछ चिन्ता न थी ; परन्तु अब जैसे-जैसे उसकी शक्ति क्षीण होती गई, वैसे ही लड़के की अधिक याद आने लगी। वह सोचती— लड़का आ जाय, तो जब पौरुष न चलेगा, तब बैठे-बैठे दो रोटी तो खिलायेगा। मालिकिन कैसी ही भली क्यो न हो, अपना आदमी अपना ही है। फिर जब मुझसे काम न होगा, तो कोई मेरी बात क्यो पूछने लगा? फिर इस घर में मेरा निबाह होना कठिन है। इस इच्छापूर्ति के लिये कौशल्या फलाहारी व्रत और कुछ पूजा-पाठ भी करने लगी।

लड़के को गये करीब २५ वर्ष बीत गये, कभी वह उसके लिये ऐसी अधीर न हुई थी। अब पुत्र के स्नेह में मग्न होकर वह भाँति-भाँति की कल्पना करती— 'मेरा रामकिसुन आयेगा, तो मुझसे अम्मा कहकर लिपट जायगा। इतने दिन मेरी सुधि न लेने पर पश्चात्ताप करेगा। लाख मुझसे अलग रहते वर्षों बीत गये तो क्या, माँ की ममता कहाँ चली जायगी? बुढ़ापे में ज़रूर मेरी सेवा करेगा।' इस समय पुत्र के स्नेह से वंचित कौशल्या को कोई दूसरा लड़का भी अम्मा कह देता, तो कौशल्या का हृदय मातृ-स्नेह से गद्‌गद हो जाता ; पर कहे कौन, सब ही तो कौशल्या से अप्रसन्न हैं। इस

अभिलाषा में उसने एक तोता पाला, और अपने बच्चे की तरह उस पर लाड-प्यार करने लगी। चुन्नीलाल तोते का नाम रखा, और अम्मा बोलना सिखाने लगी ; पर सब के साथ तोते को भी कुछ ऐसी जिद हो गई कि उसकी सिखाई बातें न पढ़ता। हाँ, चारा मिलते समय उसे जो गालियाँ मिलती थीं. उन्हें वह खूब पढ़ने लगा था!

— ३ —

मालिकिन तीर्थ करने काशी गईं, और वहाँ से ठाकुर जी की एक मूर्ति ले आईं। स्थापना हुई, और खूब धूम-धाम से मालिकिन ने नित्य-नियम से पूजा-पाठ प्रारम्भ किया। एक कहार की लड़की ठाकुरद्वारा झाड़ने-बुहारने और पूजा के बर्तन माँजने-धोने को नियुक्त की गई। कौशल्या ने लड़-झगड़कर उसे भी टिकने न दिया, और ठाकुर जी की सेवा का भार अपने ही सर ले लिया। अब बेचारे ठाकुरजी को भी प्रातःकाल बीस बातें सुननी पड़तीं— 'जाड़े में सवेरे-सवेरे अपनी काया घिसाइत है। अपने को क्या सुख? तब जानें, जब ठाकुरजी रामकिसुन को बुला दें।' कभी-कभी बर्तनो की पटका-झटकी और गालियों की नौबत भी आ जाती ; पर यह सब जानते थे कि इस काम से कौशल्या को प्रेम है। काम तो उसे सभी प्रिय हैं ; पर इस काम में कुछ भक्ति का अंश भी है।

कौशल्या जब ठाकुरजी का सब काम समाप्त कर चुकती, तो ज़मीन पर माथा टेक कर प्रणाम करती— 'ठाकुरजी, मुझ गरीबिन के

बुढ़ापे के सहारे रामकिसुन को बुला दो। मेरे अपराध क्षमा कर मेरी मनोकामना पूरी करो।' यह कहकर वह फूट-फूटकर रोने लगती। सदा लड़ने वाली कौशल्या का हृदय चौबीस घंटे में पाँच मिनट के लिए संसार के अन्य सारे प्रलोभनों से विरक्त होकर एक इच्छा में लीन हो जाता। उसकी यह आवाज़ अन्तरात्मा की ध्वनि होती। ये आँसू हर समय के आँसुओं से जुदा होते। जिस प्रकार एक अबोध बालक का हृदय संसार के वातावरण से रहित रहकर पवित्र और स्वच्छ होता है, इस अवस्था में उसे किसी प्रकार का कष्ट पहुँचे, तो वह फूट-फूटकर रो उठता है, उस रोने में बनावट का लेशमात्र भी नहीं होता— कपट की गन्ध नहीं होती, और वह आत्मिक वेदना का सच्चा उफान होता है, इसी प्रकार कौशल्या की अन्तरात्मा पुत्र-स्मृति में फूट पड़ती। यह सच्ची लगन थी, दीनता और निस्सहाय अवस्था का जाग्रत चित्र था। एक बार वह बिलखकर रो उठती और माथा टेककर आँसू पोंछते लौट जाती; और फिर अपने नित्य के कामों में लग जाती।

— ४ —

हाड़-मास का शरीर ही तो ठहरा, खिलाई-पिलाई कहाँ तक काम दे? इधर कौशल्या को जाड़े के बुखार ने ऐसा दबाया कि बेचारी चलने-फिरने में असमर्थ हो गई। रोग-शय्या की शरण लेना दुःखदायक तो है ही, और फिर कौशल्या जैसी प्रकृति के प्राणियों के लिए! काम न मिलने से बढ़कर उसके लिए बड़ा दंड संसार में कोई न था। रोग से

अधिक भयंकर भोग उसे पड़ा रहना जान पड़ता था। यदि उसमें चलने फिरने की शक्ति शेष रहती, तो वह ऐसी-ऐसी हज़ार बाधाओं की भी परवा करने वाली न थी। अब बेचारी का काम रह गया था रोना, रोना, केवल रोना! जीभ पर रामकिसुन का नाम रहता और आँखों के सामने उसका वही बारह साल का गोल-मटोल प्यारा चेहरा।

सवेरे वह बड़ी कठिनाई से उठती, नित्य-कर्म से निवृत्त होकर लाठी टेकते-टेकते ठाकुरद्वारे तक जाती और उसी प्रकार रोकर अपने हृदय की व्यथा ठाकुर जी को सुना आती। साथ ही उसमें एक नवीन परिवर्तन और हो गया था। प्रणाम करने के बाद कुछ देर वहीं जमीन पर बैठी रहती। जब मालिकिन आरती करतीं, तो वह भारी गले से स्वर-विहीन वाणी में— 'मुझे क्या काम दुनिया से, मेरा गोविन्द प्यारा है'— अलापती।

एक दिन दोपहर के समय मुहल्ले की एक कहारिन ने आकर कहा— "कौशल्या, तुम्हारा लड़का आ गया है! अरे, बड़ा रुपये वाला है, और तुम्हारे नाती-पोते भी हैं। वह पन्द्रह दिन से यहाँ तुम्हारी खोज कर रहा था। आज मुझे राह में मिल गया, तो मैंने तुम्हारा पता बता दिया, और अपने साथ लिवा लाई हूँ।"

यह समाचार सुनते ही घर-भर में शोर मच गया; मगर कौशल्या चुप बैठी रही, मानो कुछ सुन ही न रही हो। सबने समझा, यह ख़बर झूठी समझ नाराज़ हो बैठी है। जब तक चुप है तभी तक, अब कहारिन

बुढ़ापे के सहारे रामकिसुन को बुला दो। मेरे अपराध क्षमा कर मेरी मनोकामना पूरी करो।' यह कहकर वह फूट-फूटकर रोने लगती। सदा लड़ने वाली कौशल्या का हृदय चौबीस घंटे में पाँच मिनट के लिए संसार के अन्य सारे प्रलोभनों से विरक्त होकर एक इच्छा में लीन हो जाता। उसकी यह आवाज़ अन्तरात्मा की ध्वनि होती। ये आँसू हर समय के आँसुओं से जुदा होते। जिस प्रकार एक अबोध बालक का हृदय संसार के वातावरण से रहित रहकर पवित्र और स्वच्छ होता है, इस अवस्था में उसे किसी प्रकार का कष्ट पहुँचे, तो वह फूट-फूटकर रो उठता है, उस रोने में बनावट का लेशमात्र भी नहीं होता— कपट की गन्ध नहीं होती, और वह आत्मिक वेदना का सच्चा उफान होता है, इसी प्रकार कौशल्या की अन्तरात्मा पुत्र-स्मृति में फूट पड़ती। यह सच्ची लगन थी, दीनता और निस्सहाय अवस्था का जाग्रत चित्र था। एक बार वह बिलखकर रो उठती और माथा टेककर आँसू पोंछते लौट जाती; और फिर अपने नित्य के कामों में लग जाती।

— ४ —

हाड़-मास का शरीर ही तो ठहरा, खिलाई-पिलाई कहाँ तक काम दे? इधर कौशल्या को जाड़े के बुखार ने ऐसा दबाया कि बेचारी चलने-फिरने में असमर्थ हो गई। रोग-शय्या की शरण लेना दुःखदायक तो है ही, और फिर कौशल्या जैसी प्रकृति के प्राणियों के लिए! काम न मिलने से बढ़कर उसके लिए बड़ा दंड संसार में कोई न था। रोग से

अधिक भयंकर भोग उसे पड़ा रहना जान पड़ता था। यदि उसमें चलने फिरने की शक्ति शेष रहती, तो वह ऐसी-ऐसी हज़ार बाधाओं की भी परवा करने वाली न थी। अब बेचारी का काम रह गया था रोना, रोना, केवल रोना! जीभ पर रामकिसुन का नाम रहता और आँखों के सामने उसका वही बारह साल का गोल-मटोल प्यारा चेहरा।

सवेरे वह बड़ी कठिनाई से उठती, नित्य-कर्म से निवृत्त होकर लाठी टेकते-टेकते ठाकुरद्वारे तक जाती और उसी प्रकार रोकर अपने हृदय की व्यथा ठाकुर जी को सुना आती। साथ ही उसमे एक नवीन परिवर्तन और हो गया था। प्रणाम करने के बाद कुछ देर वहीं ज़मीन पर बैठी रहती। जब मालिकिन आरती करतीं, तो वह भारी गले से स्वर-विहीन वाणी में— 'मुझे क्या काम दुनिया से, मेरा गोविन्द प्यारा है'— अलापती।

एक दिन दोपहर के समय मुहल्ले की एक कहारिन ने आकर कहा— "कौशल्या, तुम्हारा लड़का आ गया है! अरे, बड़ा रुपये वाला है, और तुम्हारे नाती-पोते भी हैं। वह पन्द्रह दिन से यहाँ तुम्हारी खोज कर रहा था। आज मुझे राह में मिल गया, तो मैंने तुम्हारा पता बता दिया, और अपने साथ लिवा लाई हूँ।"

यह समाचार सुनते ही घर-भर में शोर मच गया; मगर कौशल्या चुप बैठी रही, मानो कुछ सुन ही न रही हो। सबने समझा, यह खबर झूठी समझ नाराज़ हो बैठी है। जब तक चुप है तभी तक, अब कहारिन

की शामत आया ही चाहती है ! किसमें साहस है, जो उसे समझाने जाय कि झूठ नहीं, सचमुच तेरा पुत्र द्वार पर तेरी प्रतीक्षा में आँखें बिछाये है ? जिसे गाली खाना हो, वह उसके मुँह लगे।

आखिर मलिकिन कौशल्या के पास पहुँचीं, और उसका हाथ पकड़ कर उठाती हुई बोलीं— "कौशल्या, झूठ नहीं, सचमुच ही तेरे भाग्य जाग गये। ठाकुरजी ने तेरी पुकार सुन ली। उठकर देख तो।"

अब कौशल्या को चेतना हुई, मानो मूर्छा से जगी हो। उसका हृदय गद्गद् हो आया, और रोती हुई मालिकिन के पैरों से लिपट गई— "अरे मालिकिन, यह तुम्हारे पुण्य का प्रताप है, मुझ पापिन की मनोकामना ठाकुर जी कैसे पूरी करते ?"

बड़ी कठिनाई से किसी तरह कौशल्या को लड़के के पास ले जाया गया। फिर तो माता-पुत्र दोनों ही रोये— और खूब रोये ?

— ५ —

कौशल्या का पुत्र उसी समय घर ले जाने को तैयार हो गया।

कौशल्या कभी-कभी मालिकिन से आने का वादा करके चली गई; परन्तु वहाँ रह न सकी। सेवा की इच्छुक कौशल्या बहू-बच्चों को देखकर ही लौट आई। सब को यह जानकर आश्चर्य हुआ— लौट क्यों आई ! वर्षों से पुत्र के लिये तड़प रही थी ! क्या इतनी जल्दी उससे भी लड़ाई हो गई ? ईश्वर ने यह दिन दिखलाया,

तो क्या इसकी मति हर ली ? कुछ पूर्वजन्म के पुण्य का प्रभाव है, वरना पत्थर पर दूब कैसे उग आती ? बारह वर्ष की उम्र में पुत्र चला गया था, किसे आशा थी कि अब आवेगा। जैसे इतने दिन माँ को भूला रहा, अन्त तक भूला रहता। भगवान की लीला नहीं तो और क्या है ? अब उसने माँ को स्वप्न में देखा, और ऐसा अधीर हो गया कि अफ्रिका से परिवार-सहित यहाँ दौड़ा आया। शायद कौशल्या अधिक प्रसन्नता के कारण पागल हो गई है, चेहरा देखने ही से जान पड़ता है। कैसी कायापलट हो गई! इतना शीघ्र ऐसा परिवर्तन कैसे हो गया ? आज वह जवान नहीं, बूढ़ी जान पड़ती है। आज शरीर में फुर्ती नहीं, निर्बलता है, मानो आज ही बुढ़ापे को प्रत्यक्ष प्रकट होने का अवसर मिला है। आज वह बनाव-सिगार भी तो नहीं दीखता। न होंठो पर पानों की लाली है, न बालों में तेल; पर एक नवीनता उसमें आ गई है। किसी ने आज तक क्या रोने के सिवा यह ममता की मुसकराहट उसके होंठो पर कभी देखी थी ? आज आते ही महरी ने चुटकला छोड़ा—"कौशल्या, क्या इतनी जल्दी लड़के-बहू से झगड़ा हो गया, जो लौट आई ? कुछ दिन तो लड़के-बहू की सेवा का सुख उठाती।"

कौशल्या ने मुसकराकर कहा—"हाँ, सेवा से मन भर गया।" और दिन होता, तो वह महरी के कोई करम बाकी न रखती। कौशल्या एक 'करछुली' लेकर अपने घर मे गई, और एक घंटे बाद काले रंग का एक, लोटा लिये मालिकिन के पास जाकर बोली—

"मालिकिन, तुम्हारे प्रताप से सारी मनोकामना पूरी हो गई। अब संसार मे कोई अभिलाषा नहीं है। यह लो, जीवन-भर की कमाई है। तुम्हारे अन्न-जल का ऋण तो इस जन्म में न चुका सकूँगी, चुरा-छुपा कर जो कुछ खाया पिया है, उससे मुक्त कर दो। जाने-बेजाने जो कसूर हुए हैं, उन्हे माफ करो।"

मालिकिन आश्चर्य से कौशल्या का मुँह देखने लगीं— "यह क्या कौशल्या, अपनी कमाई मुझे क्यो देती हो?' तुमने तो मेरी ऐसी सेवा की है कि मै तुम्हें सोने से पीली भी कर दूँ, तब भी तुम्हारे भार से मुक्त न होऊँगी। जाओ, पर लोटा जतन से रखो; यह तुम्हारी बडी मशक्कत की कमाई है। संसार मे कौन किसका होता है? कौन जाने, बेटा-बहू तुम्हे आदर से न रखे। अपने पास चार पैसे होंगे, तो किसी के अधीन तो न रहोगी।"

—"नहीं मलिकिन, तुम्हारी दया से जैसे इतनी कटी, यह भी कट जायगी। अब तो वृन्दावन-विहारी की शरण मे जाती हूँ, वही बेडा पार लगायेंगे। भीख माँगकर प्रसाद खाऊँगी और सो रहूँगी। इस लोटे में अब हाथ न लगाऊँगी। मेरी विनती है, मालिकिन, तुम इसे अपने काम में न लाकर ठाकुरजी की सेवा में लगा देना।"

मालिकिन के पैर छूकर कौशल्या चलने को तैयार ही थी, उसी समय एक बालक ने आकर कहा— "कौशल्या, तुम्हारा तोता आज 'जय राधाकृष्ण!' 'जय राधाकृष्ण!' कह रहा है। देखो, वह तो पढ़ने लगा।"

कौशल्या की आँखों से आँसू बहने लगे। एक हाथ में लाठी, दूसरे में तोते का पिंजरा लिये वह— "मुझे क्या काम दुनिया से, मेरा गोविन्द प्यारा है"— गाती हुई कमर झुकाये धीरे-धीरे चली जा रही थी।

यह दृश्य देखकर मालिकिन ही नहीं, कौशल्या से द्वेष रखने वाले भी मन-ही-मन रो रहे थे।

प्रायश्चित्त

"सुखिया ! अरी, ओ सुखिया ! कहाँ मर गई जाकर, चुडैल सुनती भी तो नहीं ! आने दो आज, कैसी खबर लेती हूँ ! लातों के देव बातों से थोडे ही मानते हैं।"

सेठानीजी का भारी शरीर ग्रीष्म ऋतु की दुपहरिया से भुना जा रहा था। बेचारी पसीने से तरबतर थीं। खस की टट्टियाँ सूखी जा रही थीं, पानी कौन डाले ? पंखा भी बन्द, तपिश के कारण प्राणों पर बनी थी। फिर भी सुखिया ने उनका पुकारना नहीं सुना। हाँ, बराबर के कमरे से हँसते हुये नवकुमार ने आकर पूछा— "माताजी ! क्या चाहिये, किस पर गुस्सा हो रही है ?"

—"मारे गर्मी के मेरा तो बुरा हाल है, और यह चुड़ैल सुखिया जाने कहाँ मर रही ! राम-राम करके आँख लगी, तो यह चुड़ैल चल दी। पंखा करते तो,उसके प्राण निकलते हैं।"

—"पानी पीने चली गई होगी, व्यर्थ बेचारी को गालियाँ न दो।"

—"तुम्हीं ने पढ़ा-लिखाकर सर चढ़ा लिया है। काम के नाम से उसकी नानी मरती है। उसे चाहिये बनाव-सिंगार और पढ़ने को नाविल। वह समझती है, मै चमारी से महारानी बन गई।"

गर्मी के कारण माताजी अत्यन्त विह्वल हो उठी हैं, इस समय सुखिया का पक्ष लेकर झगड़ा ठानना ठीक न होगा, यह सोचकर नवकुमार यह कहता हुआ बाहर चला गया— 'आप आराम करें, मै सुखिया को बुलाये देता हूँ।"

वह सोचने लगा— 'कैसा अन्याय है! माताजी को दस मिनट पंखा न मिले, तो बेचैन होकर वे सुखिया को गालियाँ देने लगती हैं, और सुखिया दिन-भर धूप-लू से तपती, बराण्डे में बैठी पखा खींचा करे, पानी पीने भी न उठे! उसके कारण सब मुझसे भी नाराज़ हैं, मैंने 'सुखिया को बिगाड़ दिया'— जिसे देखो, वही कहता है— 'नीच जात को पढ़ाना-लिखाना ठीक नहीं।' उसकी माँ भी तो मुझे दोष देने में नहीं चूकती— "भइया, हम नीचो को पढ़-लिखकर क्या करना है? सुखिया अब सयानी हुई, उसे दूसरे के घर जाना है। भोर उठते ही पसेरी-भर पीसना, गोबर पाथना, घास छीलना— यही उसका काम होगा। वह इन पोथी-पत्तरों को लेकर क्या करेगी?" '

परन्तु उसे ऐसी शिक्षा कब मिली है, जो वह काम से घृणा करे। अब भी तो वह छोटे-से-छोटा काम हँसते-हँसते कर लेती

है। वह सुशिक्षिता है, गोबर पाथ कर, नहा-धोकर स्वच्छ हो जाती है, यही क्या उसका बनाव-सिंगार है? साफ-सुथरा रहना ही क्या उसका दोष है?

नवकुमार अपनी बाल्यावस्था की सहचरी सुखिया के सद्‌गुणों को मन-ही-मन सराह कर प्रसन्न होता है। उसे कम उल्लास नहीं है। यह उसके ही परिश्रम का तो फल है कि एक चमार की कन्या पढ़-लिखकर बुद्धिमती बन गई। दूसरे लोगों की टीका-टिप्पणी उसे असह्य प्रतीत होती है।

मगर संसार सुखिया को नवकुमार की आँखों से क्यों देखने लगा? वह स्नेहवश भले ही भूल जाये, संसार जानता है, सुखिया चमार की लड़की— अछूत— है!

– २ –

नवकुमार ने बाहर जाकर देखा, सुखिया दीवार पर माथा टेके ऊँघ रही है। एक हाथ से पंखे की डोरी छूटने-छूटने को हो रही है, दूसरे हाथ में अधखुली प्रेमचन्द की 'कर्मभूमि' है, जो कल उसने पढ़ने को दी थी। नवकुमार ने धीरे से सुखिया का सर छू दिया। सुखिया ने चौंककर आँखे खोल दीं और इस तरह ऊँघ जाने से लज्जित होती हुई छूटती डोरी थामकर पंखा खींचने लगी। नवकुमार ने मुसकरा कर कहा— "माताजी गुस्सा हो रही हैं कि सुखिया हर वक्त पढ़ती रहती है, काम नहीं करती।"

सुखिया सकुचाती हुई बोली— "काम तो मैं सब निपटा ही के पढ़ती हूँ। न पढ़ूँ तो आप गुस्सा होते हैं, पढ़ूँ तो मालिकिन नाराज़ होती हैं! मैने अब निश्चय कर लिया है कि पढ़ना छोड दूँगी।"

सुखिया की आँखे डबडबा आईं। नवकुमार पश्चात्ताप करने लगा कि व्यर्थ ही यह प्रसंग उठाकर मैने सुखिया को व्यथित किया। वह आश्वासन के शब्दो में बोला— "हट पगली, पढ़ना किसलिए छोड़ेगी? ऐसी रुकावटे तो सदा से पड़ती आई है। तुम इसी तरह पढ़ा-लिखा करो, मैं सब से निबट लूँगा। तुम्हारी अम्मा तो अब कुछ आपत्ति नहीं करतीं?"

—"नहीं अम्मा कहीं भाषण सुन आई हैं कि अछूतो का मन्दिर में प्रवेश करना और धार्मिक ग्रन्थ छूना या पढ़ना शास्त्रो में वर्जित नहीं है। तब से वह मुझसे पढ़वाकर बड़े चाव से रामायण सुनती हैं; पर भइया! अब मुझे ही शंका होने लगी है; मेरा पढ़ना-लिखना सब व्यर्थ है। समाज मे हम अछूतों की क़दर नहीं हो सकती। व्याख्यानदाता और लेखक तो बहुत हैं; पर महात्माजी के समान हृदय से हमारी दशा पर दुःखित होने वाले समाज मे कितने हैं? हमारे प्रति जो घृणा के भाव समाज में घर कर गये हैं, उनका निकलना कठिन है। भइया, मुझ-जैसी अधम को तो तुम अन्धकार ही मे पडे रहने देते तो अच्छा था। मैं अपनी दशा प्रकट करने मे असमर्थ हूँ। कुछ अनुभव करने की बुद्धि न होती, तो हृदय मे

आत्म-सम्मान की आग तो न सुलगती। अब व्यर्थ अपमान सहने में भी दुःख होता है।"

नवकुमार सर नीचा करके सोचने लगा— 'ठीक ही तो कहती है, मैं ही अपने शरीर से आज तक छूआछूत का आडम्बर दूर नहीं कर सका ; शायद सुखिया यह अनुभव कर दुखित होती है।'

– ३ –

नित्य की भाँति आज भी सुखिया नवकुमार के कमरे के द्वार पर जाकर बोली— "भइया, अपनी सुराही का ठंडा पानी थोड़ा दे दो।" और दिन नवकुमार उठता और अपने काँच के गिलास में पानी लेकर उसके गिलास में डाल देता। उसकी इस दया से सुखिया को नाँद के गर्म पानी के स्थान पर ठंडा पानी मिल जाता। आज नवकुमार स्वयं न उठकर कुर्सी पर बैठे-ही-बैठे बोला— "सुराही से ले क्यों नहीं लेती।"

सुखिया हँस पड़ी— "आज यह नवीनता क्यों ? क्या मेरी कल की बात पर सफ़ाई दे रहे हैं ? एक मेरे हाथ का पानी पी ही लिया, तो क्या अछूतों का उद्धार हो जायगा ?" वह बोली— "जल्दी उठकर पानी दे दो, भइया, नहीं मै जाती हूँ। मालिकिन गुस्सा होने लगेंगी।"

—"जब मैं कह रहा हूँ, तो लेती क्यों नहीं, अपने साथ मुझे भी फटकार दिलायेगी क्या ?"

—"भइया, क्या सच कह रहे हो ?"

—"और क्या झूठ ?"

—"मेरे सिवा क्या किसी और चमार के हाथ का पानी पीने में भी तुम्हें इन्कार न होगा ?"

—"पानी क्या, खाना भी खा लूँ ; शर्त यह है कि तुम्हारे जैसा ही साफ़-सुथरा हो। इसमें मुझे कभी भी ऐतराज नहीं था। केवल अपनी आदत की वजह से तुम्हे दूर से पानी दे देता था। सुखिया, मेरे अपराध को क्षमा करना। लाओ, एक गिलास जल मुझे भी दे दो।"

हँसकर सुखिया ने सुराही से पानी गिलास में ढाल दिया। गिलास हाथ में लेते हुए नवकुमार ने देखा— माता जी द्वार पर खड़ी क्रोध-भरी दृष्टि से उसकी इस हरकत पर घूर रही हैं। फिर भी उसने निश्चिन्तता से गिलास मुँह में लगा ही लिया। बेचारा कब तक दूसरों के डर से अपनी आत्मा का हनन करता ?

जैसे बिल्ली कबूतर पर झपटती है, उसी तरह एक छलाँग में कमरे के अन्दर दाखिल हो मालिकिन गिलास पर झपटीं ; पर व्यर्थ। गिलास खाली हो चुका था। शिकार चूक जाने से उनके क्रोध का पारावार न रहा— "मलेच्छ कहीं का ! धरम-करम सब का सत्यानाश कर दिया ! मै नहीं जानती थी कि मेरे गर्भ से ऐसा कुलक्षणी उत्पन्न होगा। अपनी बुद्धि के सामने तू मुझे कुछ गिनता ही नहीं ! बीस बार कह चुकी हूँ, इस चमार की छोकरी को

मुँह न लगा। अब ऐसे न बनेगा, तेरे पिता से कहकर कुछ इन्तजाम करूँगी।"

इस प्रकार वह नवकुमार को खूब डाट-फटकार बताने लगीं! नवकुमार कुछ बोला नहीं, बल्कि हँसता रहा; परन्तु इस हँसी ने सेठानी जी की क्रोधाग्नि-पर घी का काम किया। दूसरा वार हुआ सुखिया पर। जैसे बादलों का घनघोर समूह जब वृष्टि से शान्त नहीं होता, तो बर्फ के गोले उगलने लगता है, इसी प्रकार सेठानी जी गाली-वर्षा से अपनी क्रोधाग्नि शान्त न कर सकीं, तो निर्दयता से बेचारी सुखिया पर घूसे-मुक्कों का प्रहार करने लगीं।

अब नवकुमार सहन न कर सका। सुखिया को अलग हटाते हुए बोला—"व्यर्थ में इस बेचारी को क्यों अपमानित करती हैं? मैंने अपराध किया है, मुझे दण्ड दीजिये। उस बेचारी को क्यों गाली देती हैं?" नवकुमार को भी क्रोध आ गया।

सेठानी जी के कर्कश स्वर का तुमुल नाद घर-भर में गूँज उठा। घरवालों के अलावा मुहल्ले वालों को भी युद्ध के बिगुल का शब्द सुनाई पड़ा। वीर राजपूत योद्धाओं की भाँति भला वे इस अवसर को हाथ से कैसे जाने देते? घटनास्थल पर खासी भीड़ एकत्रित हो गई। सभी सेठानी जी के धर्म-विश्वास पर श्रद्धा और नवकुमार के म्लेच्छपन पर क्षोभ प्रकट कर रहे थे। सुखिया की माँ बुद्धो भी आई; पर और दिन की तरह सेठानी जी की चापलूसी में उसने सुखिया को फटकारा नहीं।

अपमान की भी तो सीमा होती है। एकमात्र कन्या सुखिया पर यह निर्दयता की मार देख उसका हृदयस्थल वेदना से कसक उठा।

वह बोली— "युवा कन्या पर सब के सामने इस प्रकार हाथ चलाना कहाँ की भलमनसी है? इतना भी विचार नहीं, तो हम चमारों में और इन उच्च कुल वालों मे फरक ही क्या रहा? फिर अपने लड़के पर क्यो नहीं गुस्सा होतीं? मेरी लड़की पर हाथ चलाने का इन्हें क्या हक है? यही न कि मै इनसे दबती हूँ; कुछ इनके टुकड़ो के सहारे नहीं हूँ। अपने हाथ-पैरों की मशक्कत से खाती हूँ; क्यो दबूँ? रानी रूठेगी, अपना सोहाग लेगी। जिसकी चाकरी करूँगी, वही रोटी देगा। लड़के को धरम करम की सीख देने चली हैं! तनिक अपने सेठ जी से, पूछे, कैसा धरम-करम निभाते हैं। कुछ करते नहीं बनता, मेरी लौंडिया पर झाड़ उतारती हैं। पर अब मै भी दिखा दूँगी। सुखिया अनाथ नही है, अभी उसकी पाँच हाथ की माँ जिन्दा है। देखूँ, आज से कौन सुखिया को आधी बात भी कह सके। बीबी रानी! मेरी भलमनसी, जो सदा तुमसे दबकर चलती रही, चाहती तो आज तुम मेरे तलवे चाटतीं। तुम्हारी क्या मजाल थी, जो मेरी इच्छा के विरुद्ध चूँ भी करतीं। मेरी नेकी, जो अपनी गुलाब-सी बिटिया से तुम्हारा पंखा खिंचवाती हूँ। चाहूँ, तो आज तुम्हारे लड़के से बढ़-चढ़कर अपनी लौंडिया का लाड़ लड़ा लूँ; पर मैंने सदा मर्यादा का पालन किया है, वर्ना नीचो को काहे की फिकर। नाक तुम्हारे कुल की जाती, मेरी नहीं।"

— ४ —

माथे पर हज़ारों बल डाले आज असमय ही बुद्धो मालिक के शयनागार में पहुँची। मदिरा का नशा, ऊपर से गर्मी का प्रकोप, बेचारे सेठ जी तोंद सँभाले निद्रा में मग्न थे। इस समय उनके आराम में खलल डालने का साहस बुद्धो के सिवा और किसे हो सकता था? बुद्धो धम-से पलंग पर बैठ गई; बोली— "क्या सो रहे हो?"

बात करने की अनिच्छा का भाव दरसाते हुए सेठजी ने कहा— "हूँ!" पर बुद्धो पिंड छोड़नेवाली कब थी। बोली— "एक बात सुन लो। तुम्हारी दया से इतनी उमर बड़े चैन से कटी; पर अब गुज़र नहीं दीखती।"

इच्छा न होते हुये भी बुद्धो के रूप का जादू चल गया। इस अधेड़ अवस्था में भी उसकी बड़ी-बड़ी चमकती आँखों में आकर्षण था; उस पर क्रोध ने लाली की कोर लगाकर और भी मनोहरता भर दी थी। सेठजी दृष्टि-भर देखकर मुसकरा दिये; बोले— "खैरियत! आज किसकी शामत आने को है?"

—"हँसी छोड़ो जी, मेरी बात का जवाब दो। मैं तुम्हारी बाँदी हूँ, मार लो, काट लो, सब सह लूँगी, मैंने अपनी इज़्ज़त गँवाई है; पर जीते-ज़िन्दगी अपनी आँखों सुखिया का अपमान न देख सकूँगी। तुम्हें आज ही इसका कोई इन्तजाम करना होगा। संसार न जाने तो क्या,

मै तो जानती हूँ कि सुखिया के जन्मदाता तुम हो, तुम्हें छोड़कर और किसके पास उसकी फरियाद लेकर जाऊँ ?"

इस प्रकार धीरे-धीरे आज की सारी घटना सेठजी को सुनाने के बाद बुद्धो की आँखे छलछला आईं। आज सचमुच ही उसका हृदय बड़ा व्यथित था।

सेठजी को अपनी अर्द्धांगिनी से बुद्धो अधिक प्रिय थी। बुद्धो उनके लिये जीवन की वह सुनहरी वस्तु थी, जिसे पाकर उन्हे फिर और चाहना न रह गई थी। बीस वर्ष पहले की घटना इस समय उनकी आँखों के सामने घूम गई— घास का गट्ठर सर पर रखे, फटे कपड़ो के भीतर से अपने रूप की छटा बिखेरती बुद्धो द्वार पर नौकरो से गिड़गिड़ा रही थी— "मै बड़ी गरीबनी हूँ, दया करके मेरी घास ले लो। बड़ी दूर से आ रही हूँ। भगवान् जानता है, आज अब तक दाना नसीब नहीं हुआ। घर मे मेरा आदमी बीमार पड़ा है।"

उसकी निर्धनता पर दया करके, या किसी और कारण से बुद्धो के आदमी को बुलाकर सेठजी ने अपना कोचवान नियुक्त कर लिया। इसके बाद जो हुआ, बतलाने की जरूरत नहीं।

सेठजी क्रोध मे भरे यह कहते हुए उठे— "मै पहले ही मना कर चुका हूँ, उस बेचारी को तकलीफ क्यों देती हो ? पंखा खींचने वालों की कमी नहीं है। नवीन की माँ इस योग्य नहीं है, जो उसके साथ ऐसा व्यवहार बरता जाय।"

भीतर जाकर सेठजी ने सेठानीजी को खासी डाट बतलाई। जो नौबत बीस वर्ष से बुद्धो के कारण न आने पाई थी, आज आकर ही रही।

— ५ —

सेठजी और बुद्धो चमारिन में क्या सम्बन्ध है, यह समाज से छुपा न था। पिता के दुश्चरित्र पर समाज को बहिष्कार की आवश्यकता प्रतीत न हुई ; पर पुत्र के चरित्र पर हुई! कलंक प्रत्यक्ष प्रकट ही था। समाज अपने माथे पर इतना भारी कलंक कैसे लगवा सकता है ? खुले खज़ाने नवकुमार ने चमार की लड़की के हाथ का पानी पिया ! यही नहीं, कुछ और बात भी है, वरना उसका पक्ष लेकर माँ से झगड़ा क्यों होता ? पतित समाज इन अर्थों के अतिरिक्त दूसरे अर्थ निकाल ही क्या सकता था ? सत्य के मार्ग पर दृढ़ रहकर किसी के साथ न्याय करना समाज की दृष्टि में खटकता है। समाज की रूढ़ि के विरुद्ध कोई भी कार्य चाहे कैसा ही पवित्र क्यों न हो, स्वीकार नहीं किया जा सकता ! हाँ, छुपे-छुपे चोरी करो, डाका मारो, झूठ बोलो, व्यभिचार करो, समाज चूँ भी न करेगा,— केवल रूढ़ियों का पर्दा पड़ा रहना आवश्यक है !

धर्म के ठेकेदारों का एक डेपूटेशन सेठजी के पास पहुँचा। पंडितजी महाराज से पायलागन और सबसे यथायोग्य करके सेठजी बोले— "कहिये, कैसे आज सवेरे ही आप लोगों ने दर्शन देने की कृपा की ?"

"धर्मावतार की जय बनी रहे।"— आशीर्वाद के साथ ही पंडितजी ने डेपूटेशन के आने का कारण बड़ी दीनता से कह सुनाया। पंडितजी के स्वर में स्वर मिला कर अन्य सभ्य भी बोल उठे— "हमें पूरी आशा है, पक्षपात का विचार दूर कर आप धर्म के प्रति उचित न्याय करेंगे। इसी कारण हम लोगों ने स्वयं कुछ निर्णय न कर आप ही को विचाराधीश बनाया है।"

—"लड़के से बड़ी भूल हुई, मैं यह लज्जापूर्वक स्वीकार करता हूँ; पर आप जानते हैं, आजकल के लड़कों की हवा ही बिगड़ी हुई है। धर्मकर्म, छूत-छात वे मानते ही नहीं।"

—"अन्नदाता! आपका कहना सत्य है; पर आप ही के घर धर्म पर ऐसा आघात होगा और आप चुपचाप सह लेंगे, तब तो, सरकार, धर्म की नैया ही डूब जायगी! चारों ओर बड़ी निन्दा हो रही है। यह समाज पर बड़ा भारी कलंक लग रहा है।"

—"नहीं महाराज, मैं चुप कैसे रह सकता हूँ? मैंने नवीन को ताड़ना देकर आगे के लिए सावधान रहने को कह दिया है।"

हँस कर पंडित जी बोले— "यह तो आपने उचित ही किया है, पर जब तक वह छोकरी घर में रहेगी, लड़के का सुधरना कठिन है, और न बिरादरी वालों ही को विश्वास होगा। हरे कृष्ण! लड़के की मूर्खता तो देखो, धर्म-कर्म का ज़रा भी विचार नहीं और न यह भय कि कुल में कलंक लगता है। सरकार, इसका आपने उचित

प्रबन्ध न किया, तो लड़के के विवाह में बड़ी कठिनाई पड़ेगी। कौन अपनी कन्या आपके यहाँ देकर जात-बिरादरी में कलंकित होगा ?"

सेठ जी अब डेपूटेशन का आशय समझ सके। उन्होंने स्वप्न में भी ध्यान न दिया था कि तनिक-सी बात इतनी बढ़ सकती है। नवकुमार-जैसे सदाचारी लड़के के प्रति समाज का यह व्यर्थ उत्पात उठाना उन्हें अच्छा न लगा। क्षण-भर को उनकी मुद्रा कठोर हो गई ; मगर फिर भी वे अपने मुँह से पुत्र के झूठे कलंक का विरोध न कर सके। भय था, यह लोग चिढ़े हुए हैं, कहीं मुझ पर ही आक्षेप न कर बैठें, जो गड़े मुर्दे उखड़ने लगें। सेठ जी इस प्रकार बात उड़ाते हुए मानो उन लोगों का तात्पर्य कुछ समझे ही नहीं, बोले—"आप लोगों को विश्वास न हो, तो मैं नवीन को आपके सामने बुलाकर वचन ले लूँ। और महाराज! भूल-चूक तो सब ही से होती है। आप उचित समझें, तो यज्ञ कराकर उसके इस पाप का प्रायश्चित्त करा दीजिये। चमार के हाथ का पानी पीने का दोष मिट जायगा।"

सेठ जी का निशाना ठीक बैठा। सब की आँखें हर्ष से चमक उठीं। अछूतोद्धार के पक्षपातियों को परास्त करने के लिए उन्हें शस्त्र मिल गया। उल्लास में सब सेठ जी की वाह-वाह करने लगे। इस प्रस्ताव से पंडित जी की तो पाँचों घी में थीं। यज्ञ-रचना में कुछ उपार्जन भी हो जायगा। प्रसन्न होते हुए बोले—

"अन्नदाता, यह तो खूब रही, एक पंथ, दो काज। लड़के का प्रायश्चित्त करने से सनातन धर्म का बोलबाला तो होगा ही और यह गाँधीवाले भी जान लेंगे कि सनातनी अपने धर्म से डिगने वाले नहीं। आप धार्मिक जगत् में एक महान् कार्य करके पुण्य के भागी होंगे। इसी उपलक्ष में एक धर्म-सम्मेलन भी किया जाय; बनारस के बड़े बड़े पंडितों के व्याख्यान हों; कीर्त्तन-मंडलियाँ बुलाई जायँ। इन धर्म की लुटिया डुबाने वालों की आँखें तो खुलें।"

सबने पंडितजी की हाँ-में-हाँ मिलाई। सेठजी विजय-गर्व से मुस्करा दिये— "आप लोगों की इच्छा भला मुझे अस्वीकार हो सकती है? आप-जैसे महापुरुष जो करेंगे, उचित ही होगा।"

सभा विसर्जित हुई। भीतर आकर सेठजी ने प्रायश्चित्त की आयोजना नवकुमार को कह सुनाई— "बेटा, दुनिया में रहकर दुनियादारी बर्तनी ही पड़ती है। या तो क्या मैं नहीं जानता, आजकल छूत-छात का कौन विचार करता है; पर ढिंढोरा पीटने से क्या लाभ? सुना है, इस घटना के बाद से तुम अछूतोद्धार-कमेटी में शामिल होकर काम कर रहे हो! यह लड़कपन छोड़ो। तुम जानते हो, मैं सनातनधर्म-सभा का प्रधान हूँ; शहर में कितना नाम है; तुम्हारी इन बातों से मेरी मान-मर्यादा में धक्का लगेगा।"

—"पिताजी, मैं प्रायश्चित्त अवश्य करूँगा; पर अपने ढंग पर। मैंने कोई पाप नहीं किया है, जो इन बकवादियों की कुचक्र-नीति में फँसूँ।"

—"इन बातों से यह कलंक और बढ़ेगा। मेरा कुरीतियों से दूर देखना, फिर कोई इस विषय पर मुँह खोलने का भी साहस ... पापों का

जब नवकुमार सहमत न हुआ, तो सेठजी को क्रोध आ ... मे भी उन्हें उचित-अनुचित का ज्ञान न रहा। जो मुँह में आया, कह गये।

नवकुमार ने निश्चय किया, मेरे कारण इनकी निन्दा होती है, तो मैं घर छोड़ दूँगा; पर झूठे कलंक से कदापि नहीं डरूँगा।

— ६ —

"भैया, तुम्हारे बिना मुझसे इस घर में रहा न जायगा; जहाँ तुम जाओ, मुझे भी ले चलो।"— सजल नेत्रों से निहारते हुये सुखिया ने कहा।

—"सुखिया बहन, धैर्य से काम लो। मेरा क्या ठिकाना! भाग्य कहाँ कहाँ ठोकरें खिलावे।"

—"भैया, मेरे लिये तुम घर छोड़ सकते हो, तो क्या मैं तुम्हारे संग विपत्तियों का सामना नहीं कर सकती? मुझे भी अपने साथ सेवा-कार्य में लगा लो, तो यह जीवन सफल हो जाय। भैया, तुमने मुझे आशाएँ दी थीं— 'पढ़ लो, तब हम दोनों पाठशाला खोलेंगे; तुम लड़कियों को पढ़ाना, मैं लड़कों को पढ़ाऊँगा।'— चलो, अब उन आशाओं को पूर्ण करें, ईश्वर हमारी शुभ-कामनाओं में सहायता कर अवश्य सफलता प्रदान करेगा।"

त्याग

"सावधानी से नहाना सरोज, बरसात के दिन हैं। मैं भी कपड़े बदल कर आती हूँ। तू हिरिया का हाथ पकड़ ले।"

'मा, मै हिरिया-काकी का हाथ पकड़कर न नहाऊँगी। गंगा में जिसका हाथ पकड़कर नहाओ, दूसरे जनम में वही फिर मिलता है। हिरिया-काकी तो मुझे इसी जनम में अच्छी नही लगती, अगले जनम की कौन कहे!"— हिरिया को चिढ़ाने की इच्छा से सरोज ने कहा।

फूलकुमारी हँस दी— "पगली, हिरिया ने ही तो तुझे पाल-पोस कर इतना बड़ा किया है, वह तुझे अच्छी क्यों न लगेगी? झूठ-मूठ में हिरिया को नाराज़ न कर।"

तुरन्त ही हिरिया त्योरी बदल कर बोली— "नाहीं मलकिन, हम इनकर कब पाला-पोसा? ई तो आपै एतरी बडी हुइ गई रहैं। हम

इनकर टहल नाहिन कीन रहै। सिगरी रात कॉधे चढे-चढ़े घुमती रहैं, तब हिरिया काकी नीक लागत रहै।"

—"हिरिया-काकी, मैं कब तुम्हारे कंधे चढ़कर घूमी? मुझे तो याद नहीं आता।"

हिरिया कहीं घाट ही पर अपना पूर्ण रूप धारण न कर ले, इस आशंका से फूलकुमारी सरोज को झिड़कने लगीं।

—"चुप, जा सरोज, क्यों हिरिया को चिढ़ाती है? तू क्या जाने हिरिया तुझे कितना चाहती है?"

शायद हिरिया को स्मरण हो आया— वह सरोज को कितना चाहती है, आँखें पोंछती हुई बोली— "मलकिन, भगवान् जानत है हम का जस ई पियारी हैं, अपने पेट के बेटवा-बिटिया नाहीं पियार हैं; मुदा ई कबहूँ हमार जस नाहीं मनतीं।"

—"हिरिया, गंगा के किनारे मन न मैला करो। तुमने लाड़ में सरोज को सर चढ़ा लिया है, इसीलिए तो वह तुम्हें छेड़ती है।"

—"हम रोस थोड़ै मानित है मलकिन। गंगा किरिया, जो हमका तिन्क्यो नकारा लागत होय। अबहीं बच्चा हैं, स्यानी हुइहैं तो आपै समुझिहैं। गंगामाई लाखन बरिस उमिर करैं। इनकी बदउलत हमरिउ पंचनकी बढ़ती है।"

हिरिया और फूलकुमारी बातों में मशगूल हो गईं। अवसर पाकर सरोज गहरे में चली गई। जल-क्रीडा का उसे शौक है। हिरिया की दृष्टि

उधर गई, तो वह एकदम चीख उठी—"अरे मय्या! बिटिया केतरे पानी माॅ चली गई।"

हिरिया की चिल्लाहट से सरोज घबरा गई। अपने को सम्हालना कठिन हो गया। पैर टिक न सके; एक वेग की लहर आई और वह डूबने लगी।

यह दृश्य देखकर फूलकुमारी पागल-सी हो गई। सरोज को बचाने के लिए वे भी पानी में कूदने लगीं; पर हिरिया ने उन्हें पकड़ लिया, और चीत्कार से आकाश गुँजा दिया—"कोई मोर बची को बचाओ! बिटिया डूबी जात है!"

इतनी भीड़ में से किसी को इतना साहस न होता था, जो सरोज को बचाये। हाय! हाय! सब करते थे। सरोज एक बार पानी पर उतरा कर फिर गोता खाने वाली ही थी कि धम्-से शब्द हुआ, और एक सुन्दर नवयुवक सरोज को निकाल लाया।

फूलकुमारी ने सरोज को छाती से चिपटा लिया। हिरिया गंगामाई की बिनती करने लगी—"गंगामाई, तुम हमार बिटिया की बड़ी भारी अलक काट दिहो; कल याही जून तुमका पिउरी चढ़ाउब। तुम्हार चिरौरी करी, हमार बिटिया की बड़ी उमिर करयो। मोरी जीभ माँ आग लागै, यही जून रिस करै का रहा। गंगामाई, इनकर अलाय-बलाय सब हम पर आय जाय। इनकर दुख-पीर हिराय देवो।"

— २ —

अन्धा दृष्टि पाकर और कंगाल निधि पाकर जैसा प्रसन्न होता है, उसी प्रकार योगेन्द्र को पाकर फूलकुमारी के हर्ष का पारावार न रहा। इतने सुख में भी एक अभाव काँटे की भाँति खटकता था, वह दूर हो गया। भगवान् ने सब कुछ दे दिया, और चाहिए ही क्या? माता को पुत्र मिला, बहन को भाई, अनाथ योगेन्द्र को माता-पिता, स्नेहयुक्त शासन करने वाली सरोज और स्नेह के साथ ही सेवा का भावमय हृदय लिये हुए मिली रामा।

फूलकुमारी को जब मालूम हुआ कि सरोज की प्राणरक्षा करनेवाला योगेन्द्र संसार में अकेला है, तो उनकी अन्तरात्मा में द्वन्द्व मच गया— 'योगेन्द्र को तेरी गोद में देने के लिए ही तो विधना ने यह विधान रचा है। शायद सरोज इसीलिए डूबी थी।'— फिर भला फूलकुमारी इस ईश्वरीय देन से विमुख क्यों रहती? आई लक्ष्मी किसने लौटाई है?

और योगेन्द्र भी इस मातृवत् स्नेह को ठुकराने के लिए कहाँ से निष्ठुरता बटोर कर लाता? कुछ ही दिनों में सारा संकोच त्याग कर सब से हिल-मिल गया।

— ३ —

सरोज के पिता रामराय जौहरी उन्नाव के प्रसिद्ध रईस हैं; पर अधिकतर वे कानपुर ही में अपनी गंगा-किनारे वाली कोठी में

रहते हैं। सरोज और उनके मित्र की कन्या रामा दोनो कानपुर में पढ़ती हैं। जब से रामा मातृहीन हुई, फूलकुमारी उसे अपने पास ही रखती हैं, और सरोज के समान ही उससे स्नेह करती हैं। रामा भी फूलकुमारी के पास रहते-रहते माता के अभाव को भूल गई है।

इस सुखी परिवार में योगेन्द्र के आ जाने से दूना आनन्द बरस पड़ा। सरोज और रामा दोनो ही एक साथी और पाकर प्रसन्न थीं। तीनो हर समय साथ रहते, साथ पढ़ते और साथ ही सैर-सपाटे को जाते। फूलकुमारी इन लोगो का प्रेम देखकर हर्ष से फूली न समातीं। मानो योगेन्द्र भाई पर सरोज का सारा भार छोड़ कर वे निश्चिन्त हो गई हैं। सरोज ही के लिए तो उन्हे एक पुत्र चाहिए था न? वे सदा ऐसी कोशिश करतीं कि योगेन्द्र और सरोज में एक माँ से उत्पन्न भाई-बहन के स्नेह की-सी गाँठ बँध जाय। उनमें स्नेह बढ़ाने का अवसर वे हाथ से कभी जाने न देतीं। रामा योगेन्द्र के लिए नाश्ता लाती, तो वे सरोज को मीठी झिड़की देतीं—"तुझसे कुछ नहीं होता, सब रामा ही करती है। तुझे भी कभी भाई के खाने-पीने की फिक्र रहती है? कब से कह रही हूँ, योगेन्द्र के रूमालों में नाम काढ़ दे। तुझे याद ही नहीं रहती!"

इसी तरह कभी योगेन्द्र को फटकार देतीं—"क्यो रे योगेन, तुझे सरोज की कुछ फिक्र नहीं? वह तेरी छोटी बहन है, मेरे पीछे तेरे सिवा और उसका कौन है?"

दोनों उनकी बातें सुनते और सर झुका लेते हैं। फूलकुमारी क्या जाने कि सब कल्पित भावनाएँ पूर्ण नहीं होतीं।

फूलकुमारी की ताड़ना की आवश्यकता कदाचित् दो में से एक को भी न थी। उनके हृदयों मे कैसी प्रेम की गाँठ पड़ चुकी है, वे ही जानते हैं। कौन जाने योगेन्द्र को इस घर में बाँध रखने वाली मातृ-स्नेह के अतिरिक्त कोई और शक्ति भी है।

गंगा-तटपर जब कोई योगेन्द्र की प्रशंसा कर रहा था, कोई धन्यवाद दे रहा था, उस समय वह काली-काली आँखे मूक भाषा मे कह रहीं थी— 'मैं कृतज्ञ हूँ, अपना सर्वस्व तुम पर न्यौछावर करने को तैयार हूँ।'

जो आँखे श्रद्धाञ्जलि की भेंट लिये, प्रेम के पाँवड़े बिछा रही थीं, योगेन्द्र उनसे विमुख कैसे होता? उस सुषमामयी सुन्दरी को प्रेमाञ्जलि समर्पण कैसे न करता?

कितनी अँधेरी रात में उसने द्वार खोलकर भागने की चेष्टा की है— 'दूसरे का आश्रय क्यों स्वीकार करूँ? इससे तो राह का भिखारी बनना ही अच्छा है।' किन्तु वही दो आँखे सामने चमक उठीं और अपने आकर्षण से लौटा लाईं।

कैसा जादू था! योगेन्द्र कैसे कठिन बन्धन में जकड़ा था! लाख यत्न करने पर भी छूटता न था, बल्कि जकड़ता ही जाता था, और अब तो पूर्णतः जकड़ गया था।

— ४ —

योगेन्द्र सोचता, आज अवश्य ही चाँदनी की छाया में गंगा-किनारे बैठकर अपने मन की सारी बात सरोज से कह दूँगा ; किन्तु कितनी ही चाँदनी रातें आईं और चली गईं, योगेन्द्र का संकोच दूर न हुआ।

वे दोनों एक दूसरे के हृदय से तो अनभिज्ञ नहीं हैं— दोनों एक दूसरे से खूब परिचित हैं ; पर अब इतने ही में उन्हें सन्तोष नहीं है। अपनी बात मुँह तक लाने को हृदय मचलता है।

एक दिन संध्या समय दोनों गंगा-किनारे सुनसान स्थान पर निश्चल निमग्न बैठे थे। सम्भव है, सरिता की गति से अपने हृदय की तुलना कर रहे हों। उनके हृदयों में भी एक सरिता उथल-पुथल मचा रही है। उस नीरवता को भंग करते हुए सरोज बोली —"योगेन्द्र !"

योगेन्द्र सिहर उठा। रोज़ के स्वर से इस स्वर में आज उसे नवीनता का अनुभव हुआ।

—"सरोज !"

—"छुट्टियाँ ख़तम होने को आईं और हम लोग निश्चय ही न कर सके कि अब क्या पढ़ना है ?"

—"इससे पहले कुछ और भी तो निश्चय करना है।"

सरोज के गुलाबी गालों पर सुर्खी दौड़ गई। सिनेमा के फिल्म की भाँति मुँह पर अनेक भाव आने-जाने लगे। योगेन्द्र मुसकरा दिया, मानो कहता हो— मैंने देख लिया।

अपनी दशा पर परदा डालने की चेष्टा में सरोज जल्दी-जल्दी बोलने लगी— "मैं तो अब डाक्टरी पढ़ूँगी,— तुम क्या पढ़ोगे ?"

—"जो तुम कहोगी।"

—"तुम्हारी क्या इच्छा है ?"

—"कुछ नहीं।"

सरोज खीज जाने का भाव प्रकट करती हुई उठ खड़ी हुई— "तुमसे बात करना व्यर्थ है ; लो, मैं जाती हूँ।"

हाथ पकड़ कर बिठाते हुए योगेन्द्र ने कहा— "अरे, नाराज़ न हो, बैठो। सच कहता हूँ, सरोज, तुम्हारी खुशी ही मेरी इच्छा है। सब जानकर भी अनजान क्यों बनती हो ? मेरे पास सिवा तुम्हारे प्रेम के और कुछ नहीं है। यह हृदय तो बिल्कुल मुर्दा हो चुका था, तुमने चुपके से किसी आकांक्षा का बीज बोकर इसे फिर जिला दिया है। बहुत दिनों से इच्छा रहते हुए भी अब तक तुमसे कुछ कह न सका। बोलो, मेरी प्रेमाञ्जलि स्वीकार है ?"

सरोज का मस्तक धीरे-से योगेन्द्र के वक्षस्थल पर झुक गया। इससे अधिक स्पष्ट उत्तर वह और क्या देती ?

थोड़ी. खामोशी के बाद योगेन्द्र कहने लगा— "तो फिर अब पिताजी से कह देना ही ठीक होगा न ?"

हाथ छुड़ाती हुई सरोज बोली— "जैसा चाहो।"

दोनों प्रफुल्लित मन से उठ खड़े हुए— "अरे, अँधियाला हो गया! अब घर चलें।"

उसी समय हिरिया की आवाज़ सुनाई दी— "बिटिया, घरै चलो, मलकिन का बड़े जोर का बुखार चढ़ा है।"

फूलकुमारी को कठिन रोग ने जकड़ लिया था।

— ५ —

संसार के एक-एक क्षण में कैसा परिवर्तन छिपा है। पतझड़ के उपरान्त वसन्त और वसन्त के बाद पतझड़ आता ही रहता है। जो स्थान आज सुन्दर सुरभित पुष्पों से भरा है, उसे मरुभूमि बनते देर न लगेगी। पुष्प झड़ जायँगे, तितलियाँ बिदा हो जायँगी। मधु के इच्छुक भौंरे चले जायँगे। और उनके स्थान पर गीदड़ों का बसेरा होगा। जहाँ आज आनन्द का साम्राज्य है, कल वहीं शोक का अधिकार होगा।

ठीक ऐसी ही दशा फूलकुमारी की मृत्यु से जौहरी साहब के घर की थी। जहाँ हर समय आनन्द बंछे खोले कल्लोल करता घूमता था, वहाँ अब चारों ओर शोक मँडरा रहा था। जिसे देखो, एक ओर मुँह छुपाये आँसू बहा रहा है। सब ही एक दुःख से पीड़ित हैं, कौन किसे सान्त्वना दे?

सरोज की दशा तो और भी ज़्यादा शोचनीय है। वह क्या करे, वह रामा को प्यार करती है, और प्यार भी कैसा? जो निष्कपट है,

निश्चल है, समुद्र की भाँति अथाह है, हिमालय की भाँति अटल है। उसके हृदय में रामा के लिए स्नेह है, ममता है, अनुराग है और त्याग का भी अभाव नही है। आज उसी रामा के सुख-दुःख का सवाल है। उसके कानों में मा के अन्तिम वाक्य गूँज रहे हैं— 'रामा का विवाह योगेन्द्र के साथ कर देना, मैं उसके हृदय में इस लालसा का बीज बो चुकी हूँ, और वह फल-फूल भी रहा है।'

सरोज ने रामा के लिए क्या नहीं किया ? मा की गोद का, दुलार-प्यार का आधा भाग भी रामा को अर्पण कर दिया ; परन्तु अब क्या करे ? कल्पना-मात्र से मन विचलित होता है। हृदय में हूक उठती है। क्या अपना सारा वैभव, सारी सम्पत्ति, हृदय की मधुर अभिलाषाएँ, जीवन की सारी आकांक्षाएँ लुटा दे ? रामा के लिए क्या अपनी आहुति चढ़ा दे ? क्या इस अग्नि-परीक्षा के लिए वह तैयार हो सकेगी ? नहीं, नहीं, कदापि नहीं ! यह आहुति चढ़ाकर वह कहाँ जायगी ; कैसे रहेगी ? मन को किस आधार पर धैर्य देगी ? कैसे सन्तोष करेगी ?

संसार में फिर उसके लिए बच ही क्या जायगा ?

वह इस तपस्या के लिए तैयार न हो सकेगी ! नहीं-नहीं, अवश्य होगी, नहीं तो मा की आत्मा को शान्ति कैसे मिलेगी ? रामा की क्या दशा होगी ? वही, जो मैं अपनी दशा का अनुमान कर रही हूँ। उस बेचारी का क्या दोष ? मा ने जो अंकुर बोया, वह फलता ही। —'तुमने प्रथम ही अपनी अभिलाषा मुझ पर प्रकट क्यों न कर दी ? रामा बहन !

तूने भी मुझसे अब तक कुछ न कहा ? पर नहीं, तेरा भी कुछ दोष नहीं ; मैंने ही अपनी रामकहानी तुझे क्यों न सुना दी ?

'पहले भी तो बहुत कोशिश कर चुकी हूँ, कुछ फल न हुआ— योगेन्द्र के लिए अपने हृदय में रूपान्तर न कर सकी। फिर अब वह शक्ति कहाँ से लाऊँगी ? मैं योगेन्द्र से विलग नहीं हो सकती। उनको छोड़कर और संसार की सारी न्यामतों को ठुकरा सकती हूँ। केवल उन्हें नहीं छोड़ सकेती। फिर उन्हें त्यागने की कल्पना क्यों करूँ ?

'मुझे चिन्ता काहे की ? मा यहाँ कुछ न जानती थी, स्वर्ग से तो देख रही हैं— मै पवित्र हूँ, मेरा प्रेम पवित्र है।'

सरोज को कुछ देर के लिए सान्त्वना मिल गई। छाती के नीचे ज़ोर से तकिया दाब लिया, मानो अपने प्रेम-बन्धन को और भी कसकर जकड़ रही हो। वह सोने की कोशिश करने लगी ; पर नींद कहाँ ? विचारों ने फिर पलटा खाया, उसकी अन्तरात्मा जाग्रत हो गई— 'सरोज, तुझ में इतना स्वार्थ कहाँ से आ गया ?'

मा की मूर्ति प्रत्यक्ष दीखने लगी, मानो ग़ुस्सा होकर कह रही है— 'सरोज, तुझे मेरे वचन का कुछ भी ख़याल नहीं ?'

सरोज भयभीत होकर चीख़ उठी— 'मा ! ग़ुस्सा न हो, मुझे आग की भट्टी में कूदना स्वीकार है, तुम्हारी आज्ञा का उल्लंघन न करूँगी। क्षमा करो, मा ! तुम्हारी सरोज स्वार्थी नहीं है, वह अपने को भस्म करके रामा को सुखी करेगी।'

— ४ —

"योगेन्द्र, वास्तव में तुम मुझसे प्रेम करते हो ?"

—"क्या कुछ शक है ?"

—"हाँ।"

—"मज़ाक कर रही हो, सरोज ?"

—"नहीं।",

—"तो फिर परीक्षा ले लो।"

—"पास होगे ?"

—"ज़रूर।"

—"याद रहे, मै हँसी नहीं कर रही हूँ।"

—"मैं हँसी समझ भी नहीं रहा हूँ।"

—"योगेन्द्र, यदि मेरी चाहना— मेरी अभिलाषा तुम्हारी कल्पना से अधिक भयंकर हो, तो ?"

—"स्वीकार है, सरोज !"

—"मुझे विश्वास नही होता। पहले वचन दो।"

—"प्रतिज्ञा करता हूँ, वचन देता हूँ, बोलो, क्या कहना है ? मुझे दुःख है, मेरे प्रति तुम्हारा यह अविश्वास क्यों है ! तुम अब तक मेरे हृदय से पूर्ण परिचित नहीं हो।"

—"आज पूरी तरह से परिचित होऊँगी। देखूँ, तुम मेरे रूप के ही पुजारी हो, इच्छाओं के दास हो, या कर्तव्य पर मिटना भी जानते हो। अपनी बात पर क़ायम रहना। देखो, वचन से फिरना नहीं।"

योगेन्द्र का माथा ठनका। फिर भी जोश में वह माथे का पसीना पोंछते हुए बोला—"तुम्हारा प्रेमी उपासक योगेन्द्र, ऐसा नीच हर्गिज़ नहीं है। वह प्राण विसर्जन करके भी अपनी बात पर अटल रहेगा। अधिक अधीर न करो ; बोलो, कैसी परीक्षा देनी है ?"

—"मै जानती हूँ, योगेन्द्र, तुम कर्तव्य-पथ से विचलित न होगे। आज मेरी अभिलाषा पूरी करके मेरे हृदय में श्रद्धा की सरिता बहा दोगे,—सुनो···"

—"बोलो, बोलो, चुप क्यों हो गई, सरोज ?"

—"तुम्हें···मुझे त्याग कर रामा से विवाह करना होगा। यही मेरी भिक्षा है—बस, यही और कुछ नहीं। योगेन्द्र, क्षमा करना।"

आँसू का वेग जो किसी प्रकार इतनी देर रुका हुआ था, अब उमड़ आया। आँखें पोंछते-पोंछते सरोज ने योगेन्द्र की ओर से मुँह फेर लिया। कदाचित् हज़ार बिच्छू एक साथ डंक मारते, तब भी योगेन्द्र इस तरह दर्द से न तिलमिला उठता। उसकी प्रतिज्ञा भीष्म-प्रतिज्ञा से भी अधिक कठिन थी। —'सरोज, किस अपराध का यह दंड है, जिस हृदय में तुम विराज रही हो, वहाँ दूसरे के लिए स्थान कहाँ ? उसे दूसरे को ग्रहण करने का क्या अधिकार है ?'

उसने लड़खड़ाती आवाज़ से पूछा— "क्या इस दंड का कारण जान सकता हूँ ? केवल मा की अभिलाषा, या कुछ और भी ?"

आँसू पीते हुए सरोज ने कहा— "केवल मा की अभिलाषा पर तुम्हें इस निष्ठुरता से निराश न करती। कारण है रामा— मेरी तरह वह भी तुम्हें अपना हृदय अर्पण कर चुकी है। योगेन्द्र, स्वार्थवश उसका हृदय-कुसुम मुझसे मसला न जायगा। यही मेरा अन्तिम निर्णय है।"

—"सरोज, ऐसी निष्ठुर न बनो। अभागे पुजारी को वरदान भले ही न दो, पूजा का अधिकार तो न छीनो। तुम क्या सुखी हो सकोगी ; बोलो, तुम्हें सन्तोष मिलेगा ? फिर यदि मुझे यह विश्वास हो जाय कि तुम्हें मेरे इस प्रकार पड़ने में सुख मिलेगा, तो मुझे सन्तोष भी होता।"

—"योगेन्द्र, व्यर्थ की बातें करके मुझे दुःखित न करो। यह कायरता छोड़ दो। हम दोनों का यह त्याग आज भले ही कष्टदायक हो, अन्त में अवश्य हमारी आत्माओं को शान्ति मिलेगी। इच्छाओं के दास बनकर दूसरे के हृदय-कुसुम को पददलित करने से पवित्र प्रेम पर कलंक लगता है। विवाह-बन्धन तो क्षणिक है। हमारा-तुम्हारा प्रेम पवित्र है— इसका सम्बन्ध देह से नहीं, आत्मा से है। यह चिरकाल तक स्थिर रहेगा ; कोई शक्ति नहीं, जो इसे तोड़ सके। मैं दूर ही बैठे-बैठे तुम्हारे आराधना में लीन होकर सन्तोष प्राप्त करूँगी। तुम्हारी स्मृति मेरे हृदय को प्रसन्न करने के लिए यथेष्ट है। ईश्वर करे, तुम भी अपना कर्तव्य पालन करने में सन्तुष्ट रहो।"

योगेन्द्र के मुँह से केवल इतना ही निकला— "सरोज, दूसरी आज्ञा बहुत ही कठोर है।"

दोनों मौन बैठे-बैठे बड़ी देर तक आँसू बहाते रहे। उनके हृदय में कैसी ज्वार उठ रही थी, कौन जाने ?

— ७ —

योगेन्द्र का विवाह हो गया— हँसकर नहीं, रोकर। रामा की सेवा बिना प्रभाव दिखाये न रही। प्रेम पर वह भले ही विजय न प्राप्त कर सकी हो ; पर योगेन्द्र पर उसका पूर्ण अधिकार था। योगेन्द्र के हृदय में रह-रहकर एक टीस अवश्य उठती, फिर भी वह ऊपर से प्रसन्न था।

जौहरी साहब ने सरोज के इच्छानुसार एक सेवा-आश्रम खोला था। सरोज दिन-भर कंगाल-पीड़ितो की सेवा करती और संध्या समय गंगा-किनारे समाधिस्थ हो किसी की उपासना करती। गंगा ही वह वस्तु थी, जिसके द्वारा उसे महान् प्राप्ति भी हुई और जीवन में घोर क्रान्ति भी। अभी हिरिया जीवित थी ! कभी-कभी वह हिरिया को साथ लेकर गंगा नहाने जाती और पूछती— "हिरिया काकी, तुम्हे याद है, यही मै डूबी थी ?"

आँसू पोंछती हुई हिरिया कहती— "बिटिया, याद काहे नाहीं है। ओही दिन के कारने तो तुम का संन्यासिनी बनै का पड़ा है।"

हिरिया सब जानती है, उससे कुछ छिपा नही है। जौहरी साहब भी जब बहुत समझा-बुझा कर हार गये, सरोज ने अपने

लक्ष्य को नहीं बदला, तो वह भी ईश्वर की इच्छा समझ कर शान्त हो गये। परन्तु हिरिया को किसी प्रकार सन्तोष न था। अपने कुटुम्ब को छोड़कर वह अब भी सरोज ही के साथ रहती है और रात-दिन चिन्ता में घुला करती है।

आँखें खुलीं

हिन्दू-समाज। एक भाई, तीन बहनें। हरएक का दहेज पाँच हज़ार! पूरे पन्द्रह हज़ार! सुधा बड़ी है तो क्या, कन्या जो ठहरी! मनोहर पुत्र है— दस हज़ार की हुंडी। फिर मनोहर का लाड़-प्यार क्यों न हो? और चुन्नी के लिए? उपेक्षा।

नौचन्दी का मेला। सुन्दर-सुन्दर खिलौने, गुड़िया-गुड़ियों के छोटे-छोटे बर्तन— कढ़ाई, चूल्हा, करछुली, चकिया। मोटर, रेलगाड़ी। हरी-लाल मिठाइयाँ। हवा में उड़ने वाले गुब्बारे।

'भइया बाबूजी के साथ गया है। सारी ही चीज़ें तो लायेगा। मैं— मुझे कुछ भी नहीं। खेल भी न सकूँगी। भइया छूने कब देगा? बाबूजी मारेंगे।'

'अम्मा एक दिन मेला देखने जायँगी। मैं भी जाऊँगी। सारे मेले में एक ही दिन न? दो पैसे की मिट्टी की गिरस्ती ले देंगी।

बाबूजी की जेब पैसों से भरी रहती है। दूकान से ढेर-भर पैसे लाते हैं। भइया जो कहता है, ले देते है। अम्मा के पास पैसे कहाँ ?'

—"सुधा मेला देखने चल ; पर किसी चीज़ के लिए रोई, तो घर आकर पिटेगी।"

सुधा का नन्हा-सा हृदय सहम गया। मेला देखने का लोभ न छूटा।

मुहल्ले की सारी-की-सारी लडकियाँ रोज़ मेला देखने जाती हैं। कैसी अच्छी-अच्छी बाते सुनाती है। खिलौनो की दूकाने हैं। झूले लगे हैं। एक पैसा दे दो, झूलेवाला झुला देता है। कटा सर बोलता है। हाँ, सर कट गया है, लडकी जिन्दा है! शान्ति यही तो कह रही थी।

सुधा खिलौने लेने में किसी की बराबरी नहीं कर सकती, तो क्या मेला भी न देखेगी ? सहेलियाँ उससे क्या कहेंगी! अचरज मानेंगी। उसे जो मुँह छिपाना पड़ेगा। मेला तो ज़रूर देखेगी।

अपने बाबूजी की उँगली पकड़े सुधा घसिटती चली जा रही थी। जापानी खिलौनो की दूकान। उसका मन चलने लगा। दूकानवाला बुड्ढा, वही दाढ़ीवाला ! कैसा अच्छा है।

सुधा के मन की बात वह कैसे जान गया ?

बोला— "बाबूजी, लड़की को मोटर पसन्द है,— ले बेटी।"

हाथ से छीनकर बाबूजी ने मोटर जहाँ की तहाँ रख दी। बोले—"फिर ले देंगे।"

कोमल हृदय, बच्चे का मन। इतनी चोट काफी है। ओठ काँपे, नाक फूली, आँसू चमके, डर के मारे आँखों में ही निगल गई। घर जाकर पिटने का डर। पर 'मोटर बड़ी अच्छी है!'

मा ने घर में ही चलते वक्त कह दिया था—"ज़िद न करना, तेरे बाबू जी नाराज़ होंगे; फिर तुझे कभी न ले जायँगे, मेरा भी आना बन्द हो जायगा।"

बच्चे का मन। मार भी भूल जाता है, डर भी याद नहीं रहता।

—"मैं तो मोटर लूँगी। मो···ट···र! अम्मा, मोटर ले दो।—बाबूजी,—"

* * *

घर आकर दुखिया ने रोटी न खाई। खाईं घुड़कियाँ और डाँट। मोटर फिर भी न भूली। मोटर ले आती, तो गुड़ियों को बिठाती। शान्ति से कहती—'मैं भी मोटर लाई हूँ।' दया से कहती—'तेरी रेलगाडी किस काम की? देख मेरी मोटर।'

पर कहती कहाँ से! बाबूजी तो गुस्सा हो गये। मा ज़रा कह देती तो—। मा ने कहा—'तू रोई क्यों मेले में—सबके सामने? रोती न तो शायद आज ला देते। अब न लायेंगे।"

—"कभी नहीं लायँगे ! कभी नहीं !"

मुँह फुला लिया। मन में आई अम्मा से अड्डी कर दे।

दादी बोली— "चुड़ैल का गुस्सा तो देखो,— हर बात में भइया की नक़ल !"

मा की आँखे छलछला आईं।

सुधा सिसकने लगी। मा बेटी को गोद में पाकर और बेटी मा की गोद पाकर सब भूल गई। बिटिया सो गई।

* * *

सुधा फूली नहीं समाती— "सान्ती देख मेरी मोटर ! मौसी ने ले दी है। घर चल, तो और भी दिखाऊँ— गुब्बारे, सोने-जगने वाली गुड़िया, पिटारे-भर गुडिया के बर्तन। बहुत-सारी चीजे ! हमारी मौसी ऐसी अच्छी है ! गोटे की साड़ी भी ले दी है। देख आ चल के, तेरी साड़ी से भी अच्छी !"

पतले ओठों पर भीनी मुस्कुराहट, आँखो में बाल-सुलभ सरलता, खुशी की चमक।

—"मैं तो मौसी के साथ उसके घर जाऊँगी। मौसी की एक बिटिया है, सरोज। पढ़ती है। भाइया की-सी उसके पास बहुत-सी किताब हैं— सिलेट-पेन्सिल। उसके बाबूजी खूब प्यार करते हैं !"

—"मेरी भी मौसी खूब प्यार करती है !"

—"मैं तो पढ़ूँगी, सरोज के मास्टर से। फिर बाबूजी, और सब-कोई, मुझे खूब प्यार करेंगे।"

* * *

मौसी का घर। मौसी खूब प्यार करती है; पर अम्मा की याद आती है। किसी से कहती नहीं। मौसी कहीं भेज न दे! वहाँ फिर भइया की होड कैसे करेगी! अम्मा की याद के मारे आँखों में आँसू आते हैं, आँखें मल डालती है। मौसी जान गई तो?

एक दिन मौसी ने देख लिया, पूछ बैठीं— "आँख में क्या हो गया, लाल क्यों है?"

सुधा चुप।

मौसी ने साड़ी का पल्ला फूँककर आँखे सेक दीं।

सब कहते हैं— 'कैसी लडकी है, तोताचश्म! एक दिन भी किसी की याद नहीं की? मा रोती होगी।'

सुधा का जी चाहता है, कह दे।

* * *

सुधा बीमार है। एक सौ चार डिगरी बुख़ार। टायफाइड।

मौसी बोली— "बिटिया, तार देकर तेरी अम्मा को बुला दूँ!"

होश कहाँ जो बोले! ज़रा-सी आँखे खोलीं, फिर मींच लीं।

दूसरे दिन सवेरे बुख़ार घटा। मौसी ने पूछा — "अम्मा को बुला दूँ?"

कहीं बाबूजी आकर गुस्सा न हों। कहेंगे— 'तूने तो कहा था, आने के लिए ज़िद न करूँगी।' बाबूजी ने तो पहले से ही कह दिया

था— 'किसी को हैरान किया, तो फिर कभी न जाने पायगी।'

—'फिर बाबूजी कभी न भेजेंगे। पढ़ूँगी कैसे ?'

दिन चढ़ता गया— बुखार भी बढ़ता गया। सुधा की सवेरे की चिन्ता शाम तक बिलकुल दूर हो गई। मौसा ने थर्मामीटर लगाया— १०३½ डिगरी! झपकी— बेहोशी!

कई दिन बाद आँखे खुलीं। अम्मा की गोद में चिपट कर रोई, खूब रोई। मा-बेटी— दोनों हृदय रोये। तीसरा हृदय भी पिघला। पिता का हृदय ठहरा। गला भर आया। मुँह से आवाज न निकली।

सुधा ने देख लिया। चिल्लाई— "बाबूजी, मुझे ले जायँगे! अम्मा, अब पढ़ूँगी कैसे ?"

सुधा सहम गई। ज़र्द चेहरा और भी ज़र्द हो गया। बाबूजी ने आकर उसे गोद में उठा लिया।

—"सुधा, मेरी बिटिया! तुझे पढ़ाऊँगा। तेरे लिए मास्टर रख दूँगा। अच्छे-अच्छे खिलौने ला दूँगा।"

सुधा मुसकरा दी। उसके बाबूजी कुर्सी से उठकर बाहर बरामदे में चले गये। उनसे रहा न गया। रेलिंग पर कुहनी टेककर रूमाल से आँसू पोछने लगे। पश्चात्ताप के आँसू थे, रोके न रुके। पिता होकर अपनी ही सन्तान— पुत्र और कन्या में इतना भेदभाव! अपने आपको धिक्कारने लगे। आँखे खुल गईं।